विवेक-ज्योति

वर्ष ४७ अंक १२ दिसम्बर २००९

रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर २००९

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४७
अंक १२

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

वर्ष ४७ दिसम्बर २००९ अंक १२

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

विक्षेपशक्ती रजसः क्रियात्मिका
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।
रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं
दुःखादयो ये मनसो विकाराः ।।१११।।

अन्वय – रजसः क्रियात्मिका विक्षेपशक्तिः यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता । राग-आदयः दुःख-आदयः ये मनसः विकाराः नित्यम् अस्याः प्रभवन्ति ।

अर्थ – रजोगुण से क्रियात्मक विक्षेप शक्ति प्रगट होती है, जिसके द्वारा चिर काल से विषयों में प्रवृत्ति का विस्तार हो रहा है। आसक्ति आदि, दुख-सुख आदि जो मन के सारे विकार हैं, वे निरन्तर इसी से उत्पन्न होते हैं।

कामः क्रोधो लोभदम्भाद्यसूयाऽ-
हंकारेर्ष्यामत्सराद्यास्तु घोराः ।
धर्मा एते राजसाः पुम्प्रवृत्ति-
र्यस्मादेषा तद्रजो बन्धहेतुः।।११२।।

अन्वय – कामः क्रोधः लोभ-दम्भादि-असूया-अहंकार-ईर्ष्या-मत्सर-आद्याः एते तु घोराः धर्माः रजसाः, यस्मात् एषा पुम्-प्रवृत्तिः तत् रजः बन्धहेतुः ।

अर्थ – काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, दुर्भाव, अहंकार, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि – ये घोर लक्षण रजोगुण के हैं, जिनसे मनुष्य के मन में सारी सांसारिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। अतएव रजोगुण ही बन्धन का कारण है।

एषाऽऽवृतिर्नाम तमोगुणस्य
शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा ।
सैषा निदानं पुरुषस्य संसृते-
र्विक्षेपशक्तेः प्रवणस्य हेतुः ।।११३।।

अन्वय – यया वस्तु अन्यथा अवभासते एषा तमोगुणस्य आवृतिः नाम शक्तिः । सा एषा पुरुषस्य संसृतेः निदानम् विक्षेप-शक्तेः प्रवणस्य हेतुः ।

अर्थ – जिसके द्वारा वस्तु जैसी है, वैसी नहीं प्रतीत होती, वह तमोगुण की 'आवृत्ति' या 'आवरण' नामक शक्ति है। यह आवरण-शक्ति ही व्यक्ति के संसार में आवागमन का कारण है और (रजोगुण से उद्भूत) विक्षेप शक्ति कर्म में प्रवृत्ति का कारण है।

प्रज्ञावानपि पण्डितोऽपि चतुरोऽप्यत्यन्तसूक्ष्मात्मदृग्-
व्यालीढस्तमसा न वेत्ति बहुधा सम्बोधितोऽपि स्फुटम्।
भ्रान्त्यारोपितमेव साधु कलयत्यालम्बते तद्गुणान्
हन्तासौ प्रबला दुरन्ततमसः शक्तिर्महत्यावृत्तिः ।। ११४

अन्वय – प्रज्ञावान् अपि, पण्डितः अपि, चतुरः अपि, अत्यन्त-सूक्ष्म-आत्मदृक्, बहुधा सम्बोधितः अपि, तमसा व्यालीढः, स्फुटम् न वेत्ति। भ्रान्त्या आरोपितम् एव साधु कलयति, तद्-गुणान् आलम्बते। हन्त ! दुरन्त-तमसः असौ आवृतिः शक्तिः महती प्रबला ।

अर्थ – मेधावी होकर भी, शास्त्रज्ञ होकर भी, व्यावहारिक बुद्धि से सम्पन्न होकर भी, अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा के लक्षण जानकर भी, अनेक प्रकार से समझाये जाने पर भी, तमोगुण की शक्ति से अभिभूत होने के कारण, व्यक्ति (आत्मा को) असन्दिग्ध रूप से नहीं जान पाता। भ्रान्ति के वशीभूत होकर आरोपित (मिथ्या देह-गेह आदि) पदार्थों को सत्य तथा सुखद मानता है। उनके इन्हीं गुणों का अवलम्बन करता है। हाय, भयंकर तमोगुण की आवरण शक्ति अत्यन्त प्रबल है।

❖ (क्रमशः) ❖

सारदा-वन्दना

– १ –

(भैरवी या बिलासखानी तोड़ी–रूपक)

चिन्मयी माँ सारदा,
रह पास मेरे सर्वदा।
खो न जाऊँ मैं जगत् में,
हो कहीं तुझसे जुदा।।

छोड़ दुनिया के खिलौने,
ली शरण चरणों में मैंने,
अब उठा निज गोद में,
कर दूर मेरी दुर्दशा।।

मूढ़ मैं सन्तान तेरी,
और सुध ले कौन मेरी,
एक तेरा ही सहारा,
माँ अभय-मंगल-प्रदा।।

चार दिन की जिन्दगी है,
मोह-पीड़ा में पगी है,
सर्वदा रह साथ तो,
सब सह सकूँगा आपदा।।

– २ –

(पटदीप–रूपक)

स्नेहमूरति सारदे, भव जलधि से तार दे,
हम तुम्हारे आसरे, यूँ हमें न बिसार दे।।

मोह-माया में पड़े, झेलते हैं दुख बड़े,
अब हमारे चित्त से, अन्धकार निवार दे।।

हाथ रखकर शीश पर, माँ हमें आशीष कर,
गोद में बैठालकर, स्नेह से पुचकार दे।।

तू बरस बन ज्योतिघन, दे बहा अज्ञान-भ्रम,
हो गये निश्चिन्त हम, सब तुझी को भार दे।।

– विदेह

राष्ट्रीय एकता की जरूरत

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

इच्छाशक्ति ही जगत् में अमोघ शक्ति है। वह कौन-सी वस्तु है, जिसके द्वारा कुल चार करोड़ अंग्रेज पूरे तीस करोड़ भारतवासियों पर शासन करते हैं? इस प्रश्न का मनोवैज्ञानिक समाधान क्या है? यही कि वे चार करोड़ लोग अपनी-अपनी इच्छाशक्ति को एकत्र कर देते हैं अर्थात् शक्ति का अनन्त भण्डार बना लेते हैं और तुम तीस करोड़ लोग अपनी-अपनी इच्छाओं को एक दूसरे से पृथक् किये रहते हो। बस, यही इसका रहस्य है कि वे संख्या में कम होकर भी तुम पर शासन करते हैं। अत: संगठन ही शक्ति का मूल है। यदि भारत को महान् बनाना है, उसका भविष्य उज्ज्वल बनाना है, तो इसके लिये जरूरत है – संगठन की, शक्ति-संग्रह की और बिखरी हुई इच्छाशक्ति को एकत्र करके उसमें समन्वय लाने की।

अथर्ववेद संहिता का एक विलक्षण मंत्र याद आ रहा है, जिसमें कहा गया है – तुम सब लोग एकमन हो जाओ, सब लोग एक ही विचार के बन जाओ, क्योंकि प्राचीन काल में एकमन होने के कारण ही देवताओं ने बलि पायी थी। देवता मनुष्य द्वारा इसीलिये पूजे गये कि वे एकचित्त थे, एकमन हो जाना ही समाज गठन का रहस्य है। और यदि तुम 'आर्य' और 'द्रविड़', 'ब्राह्मण' और 'अब्राह्मण' जैसे तुच्छ विषयों को लेकर 'तू-तू' 'मैं-मैं' करोगे – झगड़े और पारस्परिक विरोध भाव को बढ़ाओगे – तो समझ लो कि तुम उस शक्ति-संग्रह से दूर हटते जाओगे, जिसके द्वारा भारत का भविष्य बनने जा रहा है। इस बात को याद रखो कि भारत का भविष्य पूर्णत: इसी पर निर्भर करता है। बस, इच्छाशक्ति का संचय और उनका समन्वय करके उन्हें एकमुखी करना ही सारा रहस्य है। प्रत्येक चीनी अपनी शक्तियों को भिन्न-भिन्न मार्गों से परिचालित करता है, परन्तु मुट्ठी भर जापानी अपनी इच्छाशक्ति एक ही मार्ग से परिचालित करते हैं; और इसका जो फल हुआ, वह तुम लोगों से छिपा नहीं है। इसी तरह की बात सारे संसार में देखने में आती है। ... ये सब मतभेद और झगड़े एकदम बन्द हो जाने चाहिये।[१]

पंजाब के सिखों तथा हिन्दुओं को सलाह

यह वही वीरभूमि है, जिसे भारत पर चढ़ाई करनेवाले शत्रुओं के सभी हमलों का आघात सबसे पहले सहना पड़ा था। इसी वीरभूमि को अपनी छाती खोलकर, आर्यावर्त में घुसनेवाली बाहरी बर्बर जातियों के प्रत्येक हमले का सामना करना पड़ा था। यह वही भूमि है, जिसने इतनी विपत्तियाँ झेलने के बाद भी, अब तक अपने गौरव तथा शक्ति को पूरी तौर से नहीं खोया है। यही वह भूमि है, जहाँ बाद में दयालु नानक ने अद्भुत विश्वप्रेम का उपदेश दिया, जहाँ उन्होंने अपना विशाल हृदय खोलकर सारे संसार को – केवल हिन्दुओं को नहीं, वरन् मुसलमानों को भी – गले लगाने के लिये अपने हाथ फैलाये। यहीं पर हमारी जाति के सबसे बाद के तथा महान् तेजस्वी वीरों में से एक – गुरु गोविन्द सिंह ने धर्म की रक्षा के लिये अपना तथा अपने प्राणप्रिय कुटुम्बियों का रक्त बहा दिया। जिन लोगों के लिये यह खून की नदी बहायी गयी, उन्होंने भी जब उनका साथ छोड़ दिया, तब वे मर्माहत सिंह की भाँति चुपचाप दक्षिण भारत में निर्जन-वास के लिये चले गये और अपने देशभाइयों के प्रति होठों पर एक भी कटु वचन लाये बिना, जरा भी असन्तोष प्रकट किये बिना, शान्त भाव से इस लोक से प्रयाण करके चले गये।

हे पंचनदवासी भाइयो! यहाँ अपनी इस प्राचीन पवित्र भूमि में, मैं तुम लोगों के समक्ष आचार्य के रूप में नहीं खड़ा हूँ, क्योंकि तुम्हें शिक्षा देने योग्य ज्ञान मेरे पास बहुत ही कम है। मैं तो पूर्वी प्रान्त से अपने पश्चिमी प्रान्त के भाइयों के पास इसीलिये आया हूँ कि उनके साथ हृदय खोलकर वार्तालाप करूँ, उन्हें अपने अनुभव बताऊँ और उनके अनुभव से स्वयं लाभ उठाऊँ। मैं यहाँ यह देखने नहीं आया कि हमारे बीच क्या-क्या मतभेद हैं, वरन् मैं तो यह खोजने आया हूँ कि हम लोगों की मिलन-भूमि कौन-सी है। यहाँ मैं यह जानने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि वह कौन-सा आधार है, जिस पर हम लोग आपस में सदा भाई बने रह सकते हैं; किस नींव पर प्रतिष्ठित होने से, अनन्त काल से सुनायी देनेवाली वह वाणी, उत्तरोत्तर अधिक प्रबल होती रहेगी। मैं यहाँ तुम्हारे सामने कुछ रचनात्मक कार्यक्रम रखने आया हूँ, ध्वंसात्मक नहीं। क्योंकि आलोचना के दिन जा चुके हैं और अब हम रचनात्मक कार्य करने के लिये उत्सुक हैं। ...

सज्जनो! इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर मैं आपके सामने

आया हूँ और आरम्भ में ही यह बता देना चाहता हूँ कि मैं किसी दल या विशिष्ट सम्प्रदाय का नहीं हूँ। सभी दल और सभी सम्प्रदाय मेरे लिये महान् और गौरवशाली हैं। मैं उन सबसे प्रेम करता हूँ और अपने जीवन भर मैं यही ढूँढ़ने का प्रयत्न करता रहा हूँ कि उनमें कौन-कौन-सी बातें अच्छी और सच्ची हैं। ... मैं वे बातें प्रस्तुत करूँगा, जिनमें हम एकमत हैं और यदि ईश्वर के अनुग्रह से यह सम्भव हो, तो आओ, हम उसे ग्रहण करें और कार्यरूप में परिणत करें।[२]

इस देश में अनेक पन्थ या सम्प्रदाय हुए हैं। आज भी ये बड़ी संख्या में हैं और भविष्य में भी होंगे। सम्प्रदाय जरूर रहें, पर साम्प्रदायिकता दूर हो जाय। साम्प्रदायिकता से संसार की कोई उन्नति नहीं होगी, परन्तु सम्प्रदायों के बिना संसार का काम नहीं चल सकता। एक ही साम्प्रदायिक विचार के लोग सारे काम नहीं कर सकते। संसार की यह अनन्त शक्ति कुछ थोड़े-से लोगों के हाथों परिचालित नहीं हो सकती। यह बात समझ लेने पर यह भी हमारी समझ में आ जाएगा कि क्यों यह सम्प्रदाय-भेदरूपी श्रमविभाग अनिवार्य रूप से हमारे भीतर आ गया है। भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक शक्ति-समूहों का परिचालन करने के लिये सम्प्रदाय कायम रहें। पर जब हम देखते हैं कि हमारे प्राचीन शास्त्र इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि यह सब भेद-भाव केवल ऊपर का है, सतही मात्र है और इन सारी विभिन्नताओं के बावजूद इनको एक साथ बाँधे रहनेवाला परम मनोहर स्वर्णसूत्र इनके भीतर पिरोया हुआ है, तब इसके लिये हमें एक-दूसरे के साथ लड़ने-झगड़ने की कोई जरूरत दिखाई नहीं देती। ...

यदि कोई तुमसे साम्प्रदायिक झगड़ा करने को तैयार हो, तो उससे पूछो, 'क्या तुमने ईश्वर के दर्शन किये हैं? क्या तुम्हें कभी आत्म-दर्शन प्राप्त हुआ है? यदि नहीं, तो तुम्हें ईश्वर के नाम का प्रचार करने का क्या अधिकार है? ... सबको अपनी-अपनी राह से चलने दो – 'प्रत्यक्ष अनुभूति' की ओर अग्रसर होने दो। सभी अपने-अपने हृदय में उस सत्यस्वरूप आत्मा का दर्शन पाने का प्रयत्न करें। और जब वे उस विराट् अनावृत सत्य के दर्शन कर लेंगे, तभी उससे प्राप्त होनेवाले अपूर्व आनन्द का अनुभव कर सकेंगे। आत्मोपलब्धि से प्रसूत होनेवाला यह अपूर्व आनन्द कपोल-कल्पित नहीं है, वरन् भारत के प्रत्येक ऋषि ने, प्रत्येक सत्यद्रष्टा व्यक्ति ने इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है। तब उस आत्मदर्शी हृदय से आप-ही-आप प्रेम की वाणी फूट निकलेगी, क्योंकि उसे ऐसे परम पुरुष का स्पर्श प्राप्त हुआ है, जो स्वयं प्रेमस्वरूप है। बस, तभी हमारे सारे साम्प्रदायिक लड़ाई-झगड़े दूर होंगे।[२]

हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्ध

वेदान्त मत की आध्यात्मिक उदारता ने इस्लाम धर्म पर अपना विशेष प्रभाव डाला था। भारत का इस्लाम धर्म संसार के अन्यान्य देशों के इस्लाम धर्म की अपेक्षा पूर्ण रूप से भिन्न है। जब दूसरे देशों के मुसलमान यहाँ आकर भारतीय मुसलमानों को फुसलाते हैं कि तुम विधर्मियों के साथ मिल-जुलकर कैसे रहते हो, तभी अशिक्षित कट्टर मुसलमान उत्तेजित होकर दंगा-फंसाद मचाते हैं।[३]

चाहे हम उसे वेदान्त कहें या किसी अन्य नाम से पुकारें, परन्तु सत्य तो यह है कि धर्म तथा विचार में अद्वैत ही अन्तिम शब्द है और केवल उसी के दृष्टिकोण से सब धर्मों तथा सम्प्रदायों को प्रेम से देखा जा सकता है। हमें विश्वास है कि भविष्य के प्रबुद्ध मानवी समाज का यही धर्म है। अन्य जातियों की अपेक्षा हिन्दुओं को यह श्रेय प्राप्त होगा कि उन्होंने इसकी सर्वप्रथम खोज की। इसका कारण यह है कि वे अरबी और हिब्रू – दोनों जातियों से अधिक प्राचीन हैं। परन्तु साथ ही व्यावहारिक अद्वैतवाद – जो समस्त मनुष्य-जाति को अपनी ही आत्मा का स्वरूप समझता है, तथा उसी के अनुकूल आचरण करता है – का विकास हिन्दुओं में सार्वभौमिक भाव से होना अभी भी बाकी है।

दूसरी ओर, हमारा अनुभव है कि यदि किसी धर्म के अनुयायी इस समानता को व्यावहारिक जगत् के दैनिक कार्यों के क्षेत्र में, उल्लेखनीय स्तर तक अपना सके हैं, तो वे इस्लाम और केवल इस्लाम के अनुयायी ही हैं। ...

इसलिये हमें दृढ़ विश्वास है कि वेदान्त के सिद्धान्त चाहे जितने भी उदार और विलक्षण क्यों न हों, परन्तु व्यावहारिक इस्लाम की सहायता के बिना, वे मनुष्य-जाति रूपी विशाल जन-समुदाय के लिये निरर्थक हैं। हम मनुष्य-जाति को उस स्थान पर पहुँचाना चाहते हैं; जहाँ न वेद है, न बाइबिल और न कुरान; परन्तु वेद, बाइबिल और कुरान के समन्वय से ही ऐसा हो सकता है। मनुष्य जाति को यह शिक्षा देनी होगी कि सभी धर्म एक उसी धर्म के – एकत्व धर्म के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं, ताकि प्रत्येक व्यक्ति इनमें से अपना मनोनुकूल मार्ग चुन सके।

हमारी मातृभूमि के लिये इन दोनों विशाल मतों का सामंजस्य – हिन्दुत्व और इस्लाम – वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर – यही एक आशा है।

इस विप्लव और संघर्ष के बीच मैं अपने मनश्चक्षुओं से भारत की उस पूर्णावस्था को देखता हूँ, जिसका भविष्य में तेजस्वी और अजेय रूप में वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर के साथ उत्थान होगा।[४]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची – १. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. १९३-९४; **२**. वही, खण्ड ५, पृ. २५७, २६२-३, २७०; **३**. वही, खण्ड १०, पृ. ३७७; **४**. वही, खण्ड ६, पृ. ४०५-६

नाम की महिमा (४/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

यज्ञ की परम्परा प्रारम्भ हुई। एक बात विशेष महत्त्व की है कि दोनों गुरु महर्षि वशिष्ठ तथा विश्वामित्र कितने सन्तुलित हैं ! यों तो पुराणों में दोनों के विरोध की बहुत बड़ी गाथा आती है। परन्तु वशिष्ठजी बड़े दूरदर्शी हैं और वे विश्वामित्र की भूमिका को विशेष महत्त्व देते हैं। ताड़का के वध के लिये श्रीराम-लक्ष्मण को विश्वामित्रजी ले गये थे, तो क्या वशिष्ठजी नहीं ले जा सकते थे? या अहल्या-उद्धार क्या वशिष्ठजी नहीं करा सकते थे? यह बड़े महत्त्व की बात है।

नाटक में प्रश्न इस बात का नहीं है कि आपको कितना पाठ याद है। नाटक में महत्त्व इसका है कि कितना पाठ आपको बोलना है। मान लीजिये कि आप बहुत अधिक स्मरण-शक्ति वाले हैं और दूसरे अभिनेताओं का पाठ भी आपको याद हो गया है। अब मंच पर यदि आप यह सोच लें कि व्यर्थ में इनको कष्ट क्यों दें, दोनों का पाठ हम अकेले ही बोल दें, तो नाटक कैसा रहेगा। दर्शक बेचारे तो उस नाटक को देखकर सिर पीट लेंगे। अत: अपनी भूमिका को समझने की विशेष आवश्यकता है। हम लोगों की समस्या यही है कि हम अपनी भूमिका को ठीक-ठीक नहीं जानते। इस विश्व-रंगमंच पर ईश्वर के नाटक में सबकी अलग-अलग भूमिकाएँ हैं। किसी की भूमिका छोटी हो सकती है और किसी की बड़ी भी हो सकती है। हो सकता है कि किसी को बहुत पाठ कहना हो और किसी को दो-चार वाक्य ही बोलना हो। अत: आवश्यक है कि हम अपनी भूमिका समझ लें, ताकि संकट न आये। दूसरों को देखकर बड़ा तीव्र उत्साह हो जाता है। हमें यह देखना है कि ईश्वर ने हमें क्या क्षमता दी है और हमसे क्या काम लेना चाहता है।

वशिष्ठजी भविष्य में देख रहे हैं। पुत्रेष्टि यज्ञ हुआ और बड़े सुन्दर ढंग से हुआ। वहाँ वशिष्ठजी हैं, शृंगी ऋषि हैं, और बड़े प्रेम तथा विश्वास के साथ वेदमंत्र बोले जा रहे हैं और अग्निदेव प्रगट हो गये –

भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें।
प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें ।। १/१८९/६

अग्नि का एक रूप प्रकृति के रूप में प्रगट होता है और अग्नि का दूसरा रूप देवता के रूप में प्रगट होता है। हम लोग अग्निकुण्ड में जो अग्नि जलाते हैं, वह भी अग्नि का एक रूप है, पर पुराणों में अग्नि का जो वर्णन है वह एक अन्य रूप है – वह है अग्नि देवता के रूप में।

यदि हमारी दृष्टि स्थूल – प्रकृतिपरक है, तो अग्नि को हम अग्नि के रूप में ही देखेंगे, लेकिन यदि हमारी दृष्टि और भी सूक्ष्म है, तो हम अग्नि का दूसरा रूप देखेंगे। प्रकृति या अग्नि को हम जड़ मानें या चेतन? तो एक ओर तो कहा गया है – आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी – प्रकृति के ये पाँचों पदार्थ जड़ हैं –

गगन समीर अनल जल धरनी।
इन्हकइ नाथ सहज जड़ करनी ।। ५/५९/२

व्यवहार में भी उनकी जड़ता दिखाई देती है। आग लगती है, तो सारी वस्तुओं को जला देती है – अच्छे-बुरे का भेद नहीं करती। बाढ़ आती है, तो सबको बहा ले जाती है। इससे लगता है कि अग्नि जड़ है। तो अग्नि जड़ है या चेतन है? ध्यान रखिये, यदि स्थूल दृष्टि और स्थूल घटनाओं को प्रमाण मानें, तो अग्नि जड़ है और यदि अन्तरंग दृष्टि से विचार करके देखें, साधना के द्वारा देखें, तो अग्नि चेतन है। यही अध्यात्म-दर्शन का मूल आधार है।

भौतिक-दर्शन और अध्यात्म-दर्शन का मूल भेद यही है। हम प्रकृति के नियमों को जानकर, उसे वशीभूत करके अपनी इच्छा के अनुकूल चलाने की चेष्टा करें, यह भौतिक ज्ञान की पद्धति है। दूसरी ओर जड़ के पीछे जो चैतन्य तत्त्व है, उसको अभिव्यक्त कर लेना, यह अध्यात्मवाद की धारणा है। वैसे आप तो किसी भी लकड़ी को जलायें तो लकड़ी जलेगी, अरणि-मन्थन करें तो भी अग्नि जलेगी, पर देवता के रूप में जो अग्निदेव प्रगट हुए, इसका क्या अभिप्राय है? अध्यात्म की समग्रता तब है, जब जड़ जड़ के रूप में नहीं, अपितु चैतन्य के रूप में दिखाई दे। गोस्वामीजी ने कई प्रसंगों में इसे बड़ी सांकेतिक भाषा में बताया है।

जब रावण लंका में हनुमानजी की पूँछ में आग लगाने को कहता है, तो वह रावण की जो भौतिकवादी धारणा है, उसके अनुकूल है। रावण ने प्रकृति के सारे पदार्थों को अपने वश में कर लिया है। वह यह मानकर चलता है कि हनुमान

चाहे कुछ भी क्यों न हो, शक्तिशाली ही क्यों न हो, पर पूँछ तो जलेगी। रावण का तर्क तो अपनी जगह बिल्कुल ठीक है। अग्नि का व्यवहार तो ठीक इसी प्रकार होता है। पर यहाँ एक अन्तर है। यहाँ रावण की दृष्टि है अग्नि को जड़ मानकर अपनी इच्छानुसार चलाने की। यह उसकी भौतिकवादी धारणा है। परन्तु हनुमानजी अग्नि को इस रूप में नहीं देखते। उन्होंने प्रारम्भ से ही जो व्यवहार किया, उसमें चेतना की विशेषता है। हनुमानजी के पूँछ में कपड़ा लपेटा जाने लगा, घी-तेल डाला जाने लगा, तो हनुमानजी ने एक नया काम किया। वे अपनी पूँछ बढ़ाने लगे –

बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला। ५/२५/५

इसमें एक संकेत था। पूँछ जो है, वह तो जितनी बड़ी थी, उतनी ही बड़ी रहेगी। पूँछ भला क्या घटेगी-बढ़ेगी? पर रावण ने हनुमानजी के लिये कहा था कि बन्दर बड़ा उपदेश दे रहा था, जरा इसकी पूँछ को जला दो। जब इसकी पूँछ जल जायेगी, तब यह बिना पूँछ का बन्दर अपने उस स्वामी के पास जायेगा, जिनकी बड़ी प्रशंसा करता है, और वहाँ से अपने स्वामी को ले आयेगा। तब मैं देखूँगा कि यह जिसका इतना गुण गाता है, उसमें क्या विशेषता है। हनुमानजी ने रावण की इस योजना को सुना और मुस्कुराये –

कपि कें ममता पूँछ पर सबहि कहउँ समुझाइ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ।। ५/२४
पूँछ हीन बानर तहँ जाइहि।
तब सठ निज नाथहि लइ आइहि।।
जिन्ह कै कीन्हिसि बहुत बड़ाई।
देखउँ मैं तिन्ह कै प्रभुताई।।
बचन सुनत कपि मन मुसुकाना।। ५/२५/१-३

अब हनुमानजी एक खेल शुरू करते हैं, जिसकी अन्तिम परिणति यह हुई कि जहाँ आग जलाई गई, वह नहीं जली और जहाँ नहीं लगाई गई, वह जलकर खाक हो गया। यह अग्नि की जड़ता है या चेतनता? अग्नि ने कैसा चेतन जैसा व्यवहार किया! गोस्वामीजी का व्यंग्य बड़ा सुन्दर है। हनुमानजी ने छलाँग कब लगाई? जब अग्निदेव को जलते देखा, जब देखा कि अग्निदेव व्याकुल हो रहे हैं –

पावक जरत देखि हनुमन्ता।
भयउ परम लघु रूप तुरन्ता।।
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारीं। ५/२५/८-९

अग्निदेव को जलते देखकर – बड़े विचित्र शब्द है। कहना यह चाहिये – कपड़ा, घी, तेल, जलने लगा या फिर हनुमानजी की पूँछ जलने लगी। रावण सोचता था कि पूँछ पर कपड़ा लपेटकर घी-तेल डालकर आग लगा दी जायेगी, तो हनुमान की पूँछ जल जायेगी। पर अग्नि देवता हनुमानजी की ओर देख रहे हैं – हमसे जलाने का काम नहीं लेंगे, तो क्या हम ही जलेंगे? हनुमानजी ने देखा – अग्निदेव व्याकुल हो रहे हैं। अग्नि में जड़ता है या चेतनता? –

हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास।
अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास।। ५/२५
देह बिसाल परम हरुआई।
मंदिर तें मंदिर चढ़ धाई।। ५/२६/१

क्या ऐसी चेतना कभी जड़ अग्नि में होगी?

जारा नगरु निमिष एक माहीं।
एक बिभीषन कर गृह नाहीं।। ५/२६/६

चार सौ कोस में फैला इतना विशाल नगर जलकर नष्ट हो गया, पर उसके बीच में एक घर बच गया। यह तो जड़ अग्नि नहीं, चेतन अग्नि ही कर सकती है। रावण प्रकृति की शक्ति पर विश्वास करता है। उसने मेघों को बुलाकर कहा कि वर्षा करके नगर की ज्वाला को तो शान्त कर दो और इतना पानी बरसाओ कि इस बन्दर को भी बहाकर फेंक दो। पर विचित्र बात यह कि जल की वर्षा होने लगी तो ऐसा लगने लगा मानो अग्नि में घृत डाला जा रहा है, अग्नि और भी प्रचण्ड हो गई। हनुमानजी क्या कोई जादूगरी दिखा रहे थे? कोई चमत्कार दिखा रहे थे? हनुमानजी का तात्पर्य तो रावण को बस यही बताना था कि तुमने अपने स्तर पर इन पदार्थों को जड़ मान लिया है और यह भी मान लिया है कि इन पर तुम्हारा अधिकार है और एक सीमा तक यह सत्य है भी। अन्ततोगत्वा विज्ञान ने जो प्रगति की है, इसमें तो यही दिखाई देता है कि प्रकृति के पदार्थों पर वैज्ञानिकों का अधिकार है, परन्तु हनुमानजी रावण को बताना चाहते हैं कि वस्तुतः यदि खोज सको, तो इस जड़ता के अन्तराल में चेतन तत्त्व छिपा हुआ है। तब ये प्रकृति के पदार्थ जड़ के रूप में नहीं, अपितु चेतन के रूप में व्यवहार करेंगे।

जल के माध्यम से, अग्नि के माध्यम से, वायु के माध्यम से और आकाश के माध्यम से हनुमानजी यही दिखाते हैं और रावण को चेतन तत्त्व का संकेत देते हैं – तुम कहते हो कि तुम आग लगाओगे, तो मेरी पूँछ जलेगी और तब मैं जाकर अपने स्वामी को ले आऊँगा। अरे, हमारे प्रभु इतने दूर हैं क्या कि उन तक पहुँचने के लिये इतनी लम्बी योजना बनानी पड़े। तुम जिन पदार्थों को जड़ मान बैठे हो, उन पर अपना अधिकार मान बैठे हो, वे उन्हीं में बैठे हैं। इस रूप में अग्नि का प्राकट्य की बात यह नहीं है, जिस रूप में लकड़ी में अग्नि जलती है। इसका अभिप्राय है कि अग्नि में चैतन्य तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ और यही देवत्व है।

पृथ्वी देवता, चन्द्रमा देवता, सूर्य देवता आदि भौतिक विज्ञान की दृष्टि से ये नाना प्रकार के पिण्ड हैं, तारे हैं, नक्षत्र हैं, ग्रह हैं, यह अपने स्थान पर एक सीमा तक सत्य है। परन्तु उस सीमा के सत्य के बाद, इससे आगे चेतन तत्त्व

की खोज ही हमारा उद्देश्य और यहीं ब्रह्म की प्राप्ति होती है। श्रीराम की प्राप्ति यज्ञ के द्वारा हुई। मंत्रों का प्रयोग करके जब यज्ञ हुआ और भक्तियुक्त अन्त:करण से जब विधिपूर्वक अग्नि में आहुति दी गई, तो उस यज्ञ के परिणामस्वरूप अग्निदेव प्रगट हुए और उनके हाथ में खीर का पात्र था –

भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें।
प्रगटे अगिनि चरु कर लीन्हें।। १/१८९/६

लेन-देन का यह क्रम कितना बढ़िया है। देवे कम और पावे अधिक। चावल, तिल, घृत तथा जौ की आहुति दी गई और अग्निदेव हाथ में खीर लेकर आये। यदि किसी को खाने के लिये सांकल्य दिया जाय और किसी को खीर परोस दिया जाय, तो सांकल्य को तो व्यक्ति मुँह से छुलाएगा मात्र, परन्तु खीर की रसमयता का उपभोग करेगा।

अग्निदेव इतने अधिक उदार हैं कि आहुति दी गई, तो प्रगट हो गए। अग्निदेव ने महाराज दशरथ के हाथ में वह चरु का पात्र दे दिया। वही सूत्र – यज्ञचक्र चल रहा है – पहले महाराज दशरथ ने, शृंगी ऋषि ने, मुनियों ने और गुरु वशिष्ठ ने आहुति दिया, बाद में अग्निदेव ने खीर दिया; और देते देते महाराज दशरथ से कह दिया – इस हवि को बाँट दो; इसे तुम किसी एक को मत खिला देना –

यह हबि बाँटि देहु नृप जाई। १/१८९/८

यज्ञ का यह सूत्र समझ लें – पाना है और पाकर देना है, बस, बाँटो। महाराज दशरथ ने पूछा – कैसे बाँटें?

बँटवारा दो प्रकार से हो सकता है। एक तो यह कि आप कई लोगों को भोजन कराने के लिये बैठायें और सबको एक ही संख्या में रोटियाँ परोस दें। पर यह वितरण उचित नहीं है, क्योंकि सबकी भूख में अन्तर है। अत: दूसरा उपाय है कि प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार खिलाया जाय। बुद्धिमान व्यक्ति चाहेगा कि प्रत्येक व्यक्ति तृप्त हो। लक्ष्य तृप्ति है, मात्रा नहीं। अग्निदेव ने भी यही कहा – यह कार्य मैं तुम्हारे विवेक पर ही तुम्हें सौंपता हूँ कि तुम जैसा उचित समझो, वैसा इसका वितरण करो –

जथा जोग जेहि भाग बनाई। १/१८९/८

बँटवारा हुआ। सबसे पहले कौशल्याजी को खीर आधा भाग दे दिया गया। फिर बचे हुए आधे भाग के दो भाग किये गये। उसका एक भाग कैकेयी जी को दिया गया। जब चौथा भाग बचा, तो फिर उसके दो भाग किये गये और एक भाग कौशल्याजी के हाथ में और एक भाग कैकेयीजी के हाथ में दिये गये और उनसे कहा गया कि आप दोनों सुमित्रा को दीजिये। देखिये – किस तरह से लेनदेन का चक्र चल रहा है! केवल महाराज दशरथ ही रानियों को नहीं देते और जितने लेनेवाले हैं, सब उसी पद्धति से देते हैं। जितना पाते हैं, उससे भी अधिक देने की चेष्टा करते हैं। कौशल्याजी ने आधा पाया और आधे के रूप में श्रीराम को पाया। लगा कि इनके प्रति तो बड़ा पक्षपात हुआ, लेकिन कौशल्या अम्बा धन्य हैं, क्योंकि आधा पाया और संसार को पूरा दे दिया। राम से भी कह दिया – मुझे माँ मत कहो, तुम्हारी माँ तो कैकेयी हैं। श्रीराम वन जाने को हुए तो कौशल्या अम्बा श्रीराघवेन्द्र से कहती हैं – यदि केवल तुम्हारे पिता ने तुम्हें वन जाने के लिये कहा होता, तो मैं तुम्हें रोक सकती हूँ, किन्तु यदि तुम्हारी माँ कैकेयी ने भी कहा हो, तो वह ही तुम्हारे लिये सैकड़ों अयोध्या के समान है –

जौं केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना।
तौ कानन सत अवध समाना।। २/५६/१-२

जिनमें इतनी पूर्ण बुद्धि, अभेद बुद्धि तथा एकत्व बुद्धि है और जिनमें इतना महानतम समर्पण है, सचमुच उनका आधा भाग पाना बड़ा सार्थक है। वैसे ही क्रिया का भी बड़ा महत्त्व है। सृष्टि के संचालन में श्रेष्ठतम ज्ञान है और ज्ञान के पश्चात् क्रिया है। कैकेयीजी क्रिया हैं। इसका अभिप्राय यह है कि बिना क्रिया के ज्ञान की समग्रता नहीं है। कुछ लोगों के जीवन में क्रिया होती है, पर ज्ञान नहीं होता। कुछ लोगों के जीवन में ज्ञान होता है, पर क्रिया नहीं होती। जाना हुआ ज्ञान क्रिया के रूप में साकार न हो, तो यह ज्ञान की अपूर्णता है; केवल क्रिया ही हो, ज्ञान न हो, तो वह भी क्रिया की जड़ता है। ज्ञान, क्रिया तथा भावना – तीनों का सांमजस्य हो।

कैकेयीजी को आधे भाग में से आधा भाग दे दिया गया। यह क्रिया के महत्त्व की ओर संकेत करता है और जिनके द्वारा पूरे राम-चरित-मानस में घटनाओं का विस्तार होता है, उस क्रिया के रूप में कैकेयीजी की भूमिका का सम्मान है। रह गई सुमित्राजी। सुमित्राजी सबसे पीछे हैं। वे भावना और उपासना हैं। प्रश्न उठता है कि क्रिया का महत्त्व अधिक है या भावना का? इसका उत्तर यह है कि बहिरंग व्यवहार में तो क्रिया को ही अधिक महत्त्व दिया जायेगा, लेकिन उससे पीछे जो उपासना है, उसका महत्त्व भी कम नहीं है।

समुद्र-मन्थन के लिये मथानी चाहिये और मन्थन चाहिये। मन्थन ही कर्म है। समुद्र में अमृत तो है, पर जब तक मथा नहीं जायेगा, तब तक अमृत नहीं निकलेगा। जब तक हम पुरुषार्थ नहीं करेंगे, कर्म नहीं करेंगे, तब तक हमें अमृतत्त्व की उपलब्धि नहीं होगी। यह साधना या पुरुषार्थ की क्रिया है। अब मथने के लिये मथानी चाहिये। विचार मथानी है –

मुदिताँ मथै बिचार मथानी। ७/११७/१५

क्रिया, पुरुषार्थ और विचार मिलकर मन्थन करें। यहाँ एक बड़ी अच्छी बात आई। जब मन्दराचल पर्वत को लाकर

समुद्र में डाला जाने लगा, तो वह नीचे धँसता गया। अब क्या हो? तब सबसे अन्त में, भगवान ने एक खेल किया। वे कछुए का रूप बनाकर समुद्र के अन्तराल में गये और उस मथानी को अपने पीठ पर धारण कर लिया।

कर्म और विचार का आश्रय लेने पर भी यदि भगवान का आश्रय न हो, तो हमारे विचार अधोगामी हो सकते हैं। ये दोनों – मन्थन और मथानी तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं, पर कछुआ सामने बिल्कुल दिखाई नहीं दे रहा है। परन्तु ईश्वर का आश्रय ही आधार के रूप में विचार को सँभाले हुये है। इस उपासना की वृत्ति सबसे पीछे रहने की है।

पाछें पवन तनय सिरू नावा। ४/२३/९

पीछे में ही इसकी विशेषता है। उपासना-रूपी सुमित्रा पीछे आने पर भी घाटे में नहीं, बल्कि सबसे अधिक लाभ में है, क्योंकि कौशल्याजी ने भी एक भाग दिया और कैकेयीजी ने भी। इसका अभिप्राय है कि उपासना में ज्ञान और क्रिया दोनों का अंश छिपा हुआ है। जब आप पूजा-पाठ करते हैं, तो यह उपासना का क्रिया-पक्ष है और जब आप ईश्वर की महिमा को जानते हैं, तो यह उसका ज्ञान-पक्ष है।

इस दृष्टि से खीर का बँटवारा करते हुये महाराज दशरथ खीर का आधा भाग कौशल्याजी को देते हैं, आधे का आधा भाग कैकेयी जी को देते हैं और शेष भाग के दो भाग करके एक भाग कौशल्याजी को और दूसरा भाग कैकेयीजी को देते हैं, जिसे वे सुमित्राजी को दे देती हैं।

सबसे पीछे जो भावना है – सबके पीछे रहकर सबकी सेवा करनेवाली भावना और उपासना की जो वृत्ति है, उसने दो पुत्रों को पाया। दो पुत्रों को पाने के बाद ऐसा लगा कि सबसे अधिक लाभ में तो सुमित्रा अम्बा ही रहीं। पर सुमित्रा अम्बा तो इतनी उदार निकलीं कि उन्होंने पाये तो दो पुत्र, परन्तु दोनों को अपने पास नहीं रखा। एक पुत्र को राम की सेवा में लगा दिया और दूसरे को भरत की सेवा में। मानो जिनसे जो मिला है, वह उन्हीं की सेवा में रहे।

अयोध्या में एक विलक्षण यज्ञचक्र प्रारम्भ हुआ। परन्तु अभी तो यह अयोध्या तक ही सीमित दिखाई देता है। बाद में इसके विस्तार की पृष्ठभूमि तैयार होती है। कल्याण की भावना से अनुप्राणित महर्षि विश्वामित्र लोक-कल्याण के लिये यज्ञ करते हैं। महाराज दशरथ की तरह वहाँ कोई पुत्र पाने की कामना नहीं है। उनका यज्ञ केवल विश्व-कल्याण के लिये है। पर विश्व-कल्याण के लिये भी जो कर्म किया जायेगा, यज्ञ किया जायेगा, क्या वह केवल व्यक्ति के पुरुषार्थ से पूरा हो सकेगा? विश्वामित्र ज्ञानी भी थे, यज्ञ भी करते थे, परन्तु अन्त में उनको भी यही निर्णय करना पड़ा कि बिना भगवान के यज्ञ की बाधाएँ दूर नहीं होंगी –

हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी ।। १/२०६

यज्ञ करने की वृत्ति होने पर भी, हम चाहे कितनी भी चेष्टा क्यों न करें, भगवान का आश्रय लिये बिना काम नहीं चलेगा। तब वे भगवान का आश्रय लेने के लिये जाते हैं। श्रीराम और लक्ष्मण को पाने के लिये जाते हैं। इस प्रकार इन दोनों गुरुओं की बड़ी सुन्दर भूमिका है।

आज तो बड़े कहे जानेवाले व्यक्तियों में भी बड़ी ईर्ष्या-द्वेष की वृत्ति पाई जाती है। हमारे एक पुराने सन्त ने अनुभव सुनाया। एक सम्मेलन में गये, तो उसके बाद उन्होंने किसी सम्मेलन में जाना ही बन्द कर दिया। – क्यों? बोले – "उसमें बड़े-बड़े आचार्य और महन्त आये थे, पर वहाँ झगड़ा इस बात को लेकर हो गया कि किसका आसन ऊँचा रहे और किसका नीचा रहे। मैंने कहा कि जब वहाँ जाकर भी ऊँचे-नीचे आसन का ही झगड़ा है, तो ऐसे स्थान में जाकर व्यक्ति के मन में ईर्ष्या-द्वेष की वृत्ति ही तो पनपेगी।"

परन्तु यहाँ पर महाराज वशिष्ठ की भूमिका बड़ी सुन्दर है। उन्होंने कहा – मैंने जिस उद्देश्य से राम का निर्माण किया था, उसको आगे बढ़ाने का कार्य विश्वामित्र का है। इसमें उन्हीं की भूमिका है, मेरी नहीं। इसीलिये दशरथजी जब अस्वीकार करते हैं, तो महर्षि वशिष्ठ उन्हें समझाते हैं – नहीं, नहीं, तुम्हें देना ही होगा –

तब बशिष्ट बहु बिधि समुझावा ।। १/२०८/८

और उन्हें याद दिला देते हैं कि जब तुम्हें यज्ञ से चार पुत्र मिले थे और विश्वामित्र यदि चारों को माँगने आते, तो भी देना चाहिये था, लेकिन ये तो दो ही माँगने आये हैं। तो चार पाकर यज्ञ की रक्षा हेतु कम-से-कम दो तो दे दो। इतनी कृपणता ठीक नहीं। इसके बाद विश्वामित्रजी श्रीराम और लक्ष्मण को साथ लेकर जाते हैं।

एक ओर तो यह यज्ञ की वृत्ति है और दूसरी ओर ताड़का है। इस ताड़का का मूल रूप क्या है? इसमें क्रोध की प्रधानता है। यह क्रोध कैसे उत्पन्न होता है? प्रत्येक विकार के उत्पन्न होने की एक प्रक्रिया है। भोगों के प्रति जो सुख बुद्धि है, उसी से काम का जन्म होता है। कहीं से हमारे अन्त:करण में यह संस्कार पैठ गया है कि भोग्य विषयों में सुख है और जब तक यह बना रहेगा, काम की वृत्ति का जन्म होता रहेगा। क्रोध की प्रक्रिया क्या है? रामायण के उत्तरकाण्ड में कहा गया है – क्रोध की वृत्ति का जन्म शुद्ध भेद-बुद्धि से होता है, द्वैत से होता है –

क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु
द्वैत कि बिनु अग्यान।
माया बस परिछिन्न जड़
जीव कि ईस समान ।। ७/१११ (ख)

यह तो अनुभव की बात है। बड़ी विचित्र बात है, कथा में भी दिखाई देता है, चलते-फिरते भी दिखाई देता है – यदि एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को धक्का लग जाय, तो लोग झगड़ पड़ते हैं। फिर कई बार ऐसा भी होता है कि जब हम लोग चलते हैं, तो कभी-कभी एक पैर से दूसरे पैर पर ठोकर लग जाती है। कभी नाखून भी लग जाता है। जब भोजन करते हैं, तो कभी-कभी जीभ दाँत से दब जाती है। पर आज तक न तो किसी को अपने पैर पर क्रोध आया और न ही अपने दाँतों पर। दाँतों को दण्ड दिलाना तो बड़ा आसान है। बस, डॉक्टर के पास जाकर कह दें कि यह बड़ा दुष्ट है, इसको निकाल ही दीजिये। परन्तु कोई भी ऐसा नहीं करता, क्योंकि इन अंगों के साथ व्यक्ति की अभेद-बुद्धि है।

तो क्रोध वहीं होगा, जहाँ भेदबुद्धि होगी, जहाँ द्वैत होगा। इसे ज्ञान की भाषा में अविद्या माया कह लीजिये और भक्तों की भाषा में दुराशा कह लीजिये। ताड़का यदि क्रोध से भरी हुई है, तो वह द्वैत बुद्धि से भरी हुई है। जिसमें अद्वैत भावना होगी, उसी के मन में विश्व-एकता की भावना आयेगी। भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं, भिन्न-भिन्न धर्म हैं, भिन्न-भिन्न रूप हैं, भिन्न-भिन्न रंग हैं। जो कुछ है, सब भिन्न-भिन्न है। जब तक सब एक न दिखाई दे, तब तक सच्चे अर्थों में सेवा क्या होगी! एक ओर अद्वैत बुद्धि है और दूसरी ओर भेद बुद्धि। द्वैत बुद्धि ही माया का स्वरूप है। जब लक्ष्मणजी ने पूछा कि माया क्या है? तो भगवान राम द्वैत बुद्धि के रूप में ही माया का वर्णन करते हैं – मेरा और तेरापन यही माया है –

मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया ।। ३/१५/२

जब तक व्यक्ति में भेदबुद्धि बनी हुई है, अन्तःकरण में द्वैत बुद्धि है, तब तक व्यक्ति के जीवन से न राग मिटेगा, न द्वेष मिटेगा, न विरोध मिटेगा, न अहंकार मिटेगा। इन सबके मूल में यह द्वैत की वृत्ति है। यज्ञ की भावना क्या है? आप जब भोजन बनाते हैं, तो अपने परिवारवालों को बड़े उत्साह से खिलाते हैं, पर दूसरों को नहीं खिलाते। यह मैं और तू का भाव ही यज्ञ वृत्ति की विरोधी है और इसी के द्वारा व्यक्ति के मन में द्वेष और क्रोध का उदय होता है।

यही ताड़का का स्वरूप है। अब अलग-अलग विकारों को मारने के लिये अलग-अलग संख्या में बाणों का प्रयोग करना पड़ता है। रावण को मारने के लिये इकतीस बाण चाहिये। कुम्भकर्ण को मारने के लिये असंख्य बाण चाहिये, पर रामायण के दो पात्र ऐसे हैं जिन्हें मारने के लिये केवल एक ही बाण चाहिये – एक तो बालि और दूसरी ताड़का। बालि के प्रसंग में भगवान इस बात पर बड़ा बल देते हैं –

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान ।। ४/६

ताड़का के प्रसंग में भी गोस्वामीजी ने जो सूत्र दिया वह बड़े महत्त्व का है – एक ही बाण से प्राण हर लिये –

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा ।। १/२०९/६

एक ही बाण पर इतना बल क्यों दिया गया? ताड़का भेदबुद्धि है और वह मरेगी कैसे? द्वैत को मिटाने के लिये अद्वैत-ज्ञान ही बाण है। बिना अद्वैत के द्वैत का विनाश नहीं हो सकता। भगवान ने गुरु विश्वामित्र की प्रेरणा से संकल्प करके धनुष पर अद्वैत तत्त्व का बाण चढ़ाया और उस द्वैत पर प्रहार किया। अब यदि बहिरंग दृष्टि से देखे तो कहा जा सकता है कि ताड़का जितनी क्रोधी थी, राम तो उससे सौ गुना अधिक क्रोधी थे। क्यों? ताड़का तो क्रोध के मारे दौड़ी हुई आई, पर राम ने उसे बिलकुल मार ही डाला। इस पर गोस्वामीजी ने बड़े महत्त्व की बात कही। प्रभु ने उसे एक ही बाण से मार डाला और उसे अपने में ही लीन कर लिया –

दीन जानि तेहि निजपद दीन्हा ।। १/२०९/६

भगवान ने ताड़का से पूछा – तुम मुझसे जब अभिन्न हो, यदि तुम जानती होती कि मैं ईश्वर से अभिन्न हूँ, मुझमें और ईश्वर में भिन्नता नहीं है, तो क्या तुम्हारे अन्तःकरण में क्रोध उत्पन्न हुआ होता? तुम्हें क्रोध इसलिये आ रहा था कि तुम स्वयं को मुझसे अलग मान रही थी।

भगवान ने शिशुपाल के साथ भी ऐसा ही किया। यज्ञ-स्थल में भगवान की प्रथम पूजा की बात आने पर शिशुपाल ने विरोध किया। भगवान चाहते तो उसे बकने देते, पूजा ले लेते। युधिष्ठिर पूजा करने के लिये तैयार थे। पर भगवान ने शिशुपाल का वध करने के बाद ही पूजा ग्रहण किया। वहाँ पर भी यही लगता है कि भगवान ने बदला लिया। शिशुपाल ने गाली दी और उन्होंने उसका सिर काट लिया। पर वहाँ भी कथा का पक्ष वही है कि शिशुपाल का सिर जब कटा, तो उसके मुँह से तेज निकलकर भगवान में समा गया। मानो भगवान का संकेत यह था कि शिशुपाल, तुम भले ही मुझे शत्रु मानते हो, वस्तुतः तुममें और मुझमें कोई भिन्नता नहीं है। मेरी पूजा – मेरी ही नहीं, तुम्हारी भी पूजा है।

जब तक इस अद्वैत तत्त्व का बोध नहीं होता, सर्वत्र ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता, एकत्व का अनुभव नहीं होता; तब तक इस द्वैतबुद्धि रूपी ताड़का का विनाश नहीं होगा और महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा नहीं होगी। महर्षि की प्रेरणा से भगवान राम इस द्वैतबुद्धि – भेदबुद्धि का नाश करते हैं।

यह द्वैत बुद्धि नाम के जप के द्वारा कैसे मिटती है और इसके मिटने का क्या अर्थ है, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

❖ (क्रमशः) ❖

क्रोध का दोष

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हममें से भला कौन नहीं जानता कि क्रोध करना बुरा है, तो भी हम क्रोध के चंगुल से बच नहीं पाते। क्रोध अन्तःकरण की वह वृत्ति है, जो इच्छा की पूर्ति में बाधा आने से उत्पन्न होती है। यह वृत्ति केवल अन्तःकरण तक अपने को सीमित नहीं रखती, वरन् इसकी प्रतिक्रिया शरीर पर भी होती है। आँखें लाल हो जाती हैं, ओठ फड़कने लगते हैं और शरीर थर थर काँपने लगता है। चेहरा तन जाता है और मनुष्य खूँखार दिखने लगता है। क्रोध धीरे-धीरे विवेक पर पर्दा डाल देता है, जिससे बुद्धि उचित-अनुचित का विचार नहीं कर पाती। गीता के अनुसार क्रोध मनुष्य के विनाश का कारण होता है। वहाँ बताया गया है कि क्रोध से सम्मोह पैदा होता है, जिससे भले-बुरे का विचार ढँक जाता है। इसे 'स्मृति-विभ्रम' कहकर पुकारा गया है। क्रोध के आवेश में हम भूल जाते हैं कि ये हमारे आचार्य हैं, पूज्य हैं, माननीय हैं। इस प्रकार के 'स्मृति-विभ्रम' से 'बुद्धिनाश' होता है। मनुष्य नहीं समझ पाता कि उसके लिए क्या करणीय है और क्या अकरणीय। फलस्वरूप वह नष्ट हो जाता है।

बचपन में कहानी पढ़ी थी कि एक महिला ने एक नेवला पाल रखा था, जो बड़ा ही स्वामिभक्त था। एक दिन अपने छोटे शिशु के पास नेवले को छोड़ वह पानी लेने कुएँ पर गयी। जब लौटी तो उसने देखा कि नेवला दरवाजे पर खड़ा हो उसकी ओर मुँह उठाकर अभ्यर्थना कर रहा है। नेवले का मुँह रक्त से सना देख महिला ने सोचा कि नेवला उसके छोटे बच्चे को मारकर खा गया है। उसने आव देखा न ताव, क्रोध के आवेश में पानी का घड़ा नेवले के सिर पर दे मारा। नेवले का तत्क्षण काम तमाम हो गया। महिला भागकर अपने बच्चे को देखने कमरे में घुसी, तो क्या देखती है कि उसका बच्चा नीचे जमीन पर बिछौने में पड़ा खेल रहा है और उसी के पास एक विषधर सर्प के तीन-चार टुकड़े रक्त में लथपथ हो पड़े हैं। महिला जान गयी कि नेवले ने ही उसके बच्चे की जान बचायी है। उसे अपनी धीरजहीनता और अविवेक पर बड़ी ही ग्लानि हुई, पर अब क्या हो सकता था।

यह क्रोध का परिणाम है। क्रोधावेश पैदा होने पर बुद्धि कुछ समझने से इनकार कर देती है। हमारी समूची चेतना तब क्रोध के रंग में रँग जाती है।

कथा आती है कि जब कवि रामचरित लिख रहे थे, तो उन्होंने वर्णन किया कि राम-रावण युद्ध के समय लंका में एक विशेष प्रकार के सफेद फूल खिले हुए थे। जब हनुमानजी को यह मालूम हुआ तो उन्होंने आपत्ति की और कहा कि फूल सफेद नहीं, लाल थे। पर कवि ने इसे स्वीकार नहीं किया। तब बात श्रीराम तक गयी और कवि तथा हनुमान दोनों ने श्रीराम से इसका फैसला चाहा। राम बोले, "हनुमान! कवि ने जो लिखा है, वही सत्य है। फूल सफेद ही थे। पर तुम तब क्रोधावेश में थे, इसीलिए फूल तुम्हें लाल दिख रहे थे!"

क्रोध से बचने का एक सार्थक उपाय यह है कि क्रोध आने पर उस स्थान का तुरन्त त्याग कर दे। दूसरा उपाय यह है कि उस समय अपने मन में ऐसे व्यक्ति का चित्र लाकर खड़ा कर ले जिसे वह सबसे अधिक प्यार करता है। तीसरा उपाय ऐसा है कि जब भी क्रोध की वृत्ति जागे, तो उस पर यह संस्कार डालने का अभ्यास करे कि 'अभी नहीं, कुछ देर बाद क्रोध की घटना पर विचार करूँगा।' इससे क्रोध का उफान धीरे-धीरे दूर हो जायेगा और हम घटना पर उसके सही परिप्रेक्ष्य में विचार कर सकेंगे। हाँ, कभी-कभी क्रोध इतना अचानक और तेज होता है कि बवंडर-जैसा हमारे मन को छा लेता है। हमें उसका भान तब होता है, जब हम क्रोध कर चुके होते हैं और उसकी प्रतिक्रिया हो चुकी होती है। पर हमें निराश नहीं होना चाहिए। उपर्युक्त तीन उपायों का धैर्यपूर्वक अभ्यास हमें धीरे-धीरे क्रोध पर नियंत्रण की शक्ति देगा।

पर यह स्मरण रहे कि क्रोध नहीं करने का तात्पर्य कायरता नहीं है। जहाँ किसी को सुधारने के लिए क्रोध करना जरूरी हो, वहाँ उसका प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। हमें केवल यही ध्यान रखना चाहिए कि हम क्रोध की वृत्ति को अपने वश में रखें, हम स्वयं उस वृत्ति के वश में न हो जायें। हम काटने से तो परहेज करें, फुफकारने से नहीं। ❑ ❑ ❑

आत्माराम के संस्मरण (१८)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

चटगाँव – क्रान्तिकारी सूर्य सेन

प्रकाश बाबू (बाद में मिशन में संन्यासी हुए) के निमंत्रण पर संन्यासी फरीदपुर गया। तब वहाँ एक नया आश्रम शुरू हुआ था, परन्तु तब भी बेलूड़ मठ द्वारा अधिगृहीत नहीं हुआ था। वहाँ के एक वैद्यराज की दिव्य जीवन-कथा का संन्यासी ने 'मानवता की झाँकी' पुस्तक में उल्लेख किया है।

फरीदपुर में लगभग डेढ़ माह रहने के बाद संन्यासी चटगाँव गया। चटगाँव में वह श्रीयुत बल का अतिथि होकर रहा। ये वहाँ कलेक्टर के स्टेनोग्राफर थे। बड़े सज्जन व्यक्ति थे। उस समय चटगाँव में एक 'श्रीरामकृष्ण सेवा-समिति' भी थी और उसका एक छात्रावास भी था। क्रान्तिकारी सूर्य बाबू के निर्देशानुसार समिति का कार्य चलता था। उनके अपने घर में इसका साप्ताहिक अधिवेशन आदि होता था। संन्यासी उस छात्रावास की व्यवस्था आदि देखने गया था। उस समय नया मकान बना था। सभी कमरे चटाई तथा मिट्टी से बने थे। नयी-नयी मिट्टी डाली गयी थी और वर्षा का मौसम था। इस कारण चारों ओर नमी फैली थी, इसीलिये मेरे रहने की व्यवस्था बल महाशय के घर में हुई थी। सूर्य बाबू के घर दो बार जाना हुआ था। एक बार उनके घर भोजन करने गया था। एक दिन बातों-बातों में आभास मिला कि उनका क्रान्तिकारियों का एक विशेष दल है और उन लोगों का जीवन मातृभूमि की सेवा में बलि के रूप में समर्पित है।

बिना धन के देश के लिये कार्य करना और विशेषकर अंग्रेजों के उच्छेदन का प्रयास सम्भव नहीं था। इसलिये उन लोगों के लिये डकैती के सिवा दूसरा कोई उपाय न था और वैसा करने पर अपने स्वदेशवासियों की ही हानि होने की खूब सम्भावना थी। उस हानि को सहन करके ही कार्य किया जा सकता है – आदि बातें संन्यासी की उपस्थिति में ही होती रहीं। उसे सुनकर संन्यासी अपने को रोक नहीं सका और बोला – "बहादुरी तो इसमें होगी कि अंग्रेजों के सरकारी खजाने को लूटकर देशोद्धार की चेष्टा की जाय। अपने ही लोगों को लूटकर, उनका सर्वनाश करके देशोद्धार की चेष्टा तो कायरों का – हीन बुद्धि के लोगों का कार्य है। इससे अनेक डकैतों की सृष्टि होती है, जो देशसेवा के नाम पर डकैती करके मजा लूटते हैं। उन लोगों का प्राय: ही नैतिक अध:पतन हो जाता है।" सभी लोग चुप रह गये।

उसके बाद सूर्यदा के साथ कई बार भेंट हुई, परन्तु उस विषय में दुबारा कोई चर्चा नहीं हुई। केवल एक बार छात्रावास के कमरों को देखते समय कहा था – "सूर्यदा, यह तो आपने किला बना लिया है। हर कमरा अलग है और हर कमरे का द्वार गली में खुलता है। सब गलियाँ भी टेढ़ी-मेढ़ी है और हर दरवाजा ऐसा लगा है, जिससे गली में किसी के आते ही देखा जा सके। एक कमरे से दूसरे कमरे में जाने के लिये पिछवाड़े से होकर ही जाया जा सकता है, परन्तु हर कमरे में एक खिड़की ऐसे जगह पर लगायी गयी है कि जहाँ से संयुक्त गली का मोड़ दिखायी देता है। इससे पुलिस के आने पर दूसरों को सूचना तो दी ही जा सकती है, मुठभेड़ होने पर गोलियाँ भी चलायी जा सकती हैं।"

सूर्यदा ने हँसते हुए कहा – "आपने ठीक समझा है। जो कार्य हम लोग कर रहे हैं, उसमें हमारी किसी भी समय पुलिस के साथ मुठभेड़ हो सकती है। इसीलिये यह व्यवस्था की गयी है। लड़कों को तैयार करना होगा न! इन सबका जीवन मातृभूमि की सेवा में समर्पित है, ये व्रती हैं।"

काशी में संन्यासी को समाचार मिला कि चटगाँव के सरकारी बारूदखाने के गोदाम में लूट हुई है। सूर्यदा के दल ने किया। कुछ लोग पकड़े गये हैं और कुछ पुलिस के साथ गोलीबारी में मारे भी गये हैं। उसे सूर्यदा की वीरता पर गौरव का अनुभव हुआ। वे क्रान्तिकारियों का मार्गदर्शन करें, तो कुछ लोगों के मर जाने से भी कोई हानि नहीं है। एक दिन मठ के साधु हरानन्द के साथ गरम-गरम कचौड़ियाँ खरीदने कचौड़ी गली गया था। एक जाने-पहचाने से लग रहे सज्जन ने तेजी से आकर संन्यासी के कान में धीरे से कहा – "सूर्यदा ने आपको दिया हुआ वचन निभाया है।" और तेजी से चला गया। धन्य हो सूर्यदा!

भक्तिमान वकील साहब

चटगाँव में और भी एक मजेदार घटना हुई थी। एक प्रतिष्ठित वकील प्रतिदिन भोर में टहलने जाया करते थे। संन्यासी के साथ परिचय होने के बाद से हर रोज टहलने जाते समय बल महाशय के घर की ओर भी एक चक्कर मारते और

संन्यासी को पुकारते। कमरा उस मकान के बिल्कुल बाहर की ओर था। भोर में थोड़ा ध्यान-धारणा के प्रयास में बैठता, तभी वे सज्जन आकर पुकारते। द्वार खोलने पर वे प्रणाम करके चले जाते – बैठते भी नहीं और कुछ बोलते भी नहीं। कई दिन ऐसा ही होने के बाद एक दिन संन्यासी ने कहा – "महाशय, उस समय मैं थोड़ा अपने भाव में रहता हूँ। आप आयें, तो अच्छा है, परन्तु कोई चर्चा आदि तो करते नहीं, ऐसे ही चले जाते हैं ! इससे मुझे थोड़ा डिस्टर्ब होता है।"

वकील साहब – "वह मेरा समय है। आपका दर्शन करने के बाद मैं चिन्तन करते हुए टहलने चला जाता हूँ। इससे आपको थोड़ी असुविधा होने पर भी मेरा लाभ होता है।"

संन्यासी ने विस्मित होकर पूछा – "क्या लाभ होता है?

वकील सा. – "सोचता हूँ कि ये साधु तो भिक्षुक हैं, वे हँसते कैसे हैं? उनके पास तो अपना कुछ भी नहीं है, उनका जीवन दूसरों के अनुग्रह पर निर्भर है; और मैं सब प्रकार से – धन-सम्पदा से समृद्ध तथा सुखी गृहस्थ हूँ, तो भी मैं उनके समान सर्वदा हँसमुख कहाँ रह पाता हूँ ! ये सदा प्रसन्न हैं। इनके पास ऐसा क्या है, जिसके कारण इनके मुख पर हँसी खेलती रहती है; सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं? यही सोचता हूँ।"

संन्यासी ने हँसते हुए कहा – "जो सब छोड़े, सो सब पावे। उनके ऊपर निर्भर रहने से मन में कोई अभाव-बोध नहीं रहता। 'यथालब्ध' जो मिलता है, उसी में सन्तुष्ट रहने के कारण चित्त में वैषयिक अभाव का दबाव नहीं रहता और प्रसन्नता बनी रहती है, जो आपके यथेष्ट धन-ऐश्वर्य होने के बावजूद प्राप्त नहीं होती। अर्थात् आपके ऊपर विविध प्रकार के वैषयिक दबाव हैं, इसीलिये प्रसन्नता या चित्त में प्रसाद का अभाव है। फिर प्राण खोलकर हँसेंगे कैसे?"

वकील सा. – "सो तो है, पर मैं आपको थोड़ा डिस्टर्ब तो करूँगा ही। यही मेरा आध्यात्मिक भोजन है। यही – प्रतिदिन भोर में आपका दर्शन और चिन्तन करना कि किसी सर्वत्यागी के मुख पर कैसी हँसी खेलती है !"

चन्द्रनाथ का स्वर्णमृग

चटगाँव से संन्यासी पहाड़ पर चन्द्रनाथ तीर्थ का दर्शन करने गया। भोलागिरि के आश्रम में रहने की व्यवस्था हुई। उस समय उस आश्रम में एक बालक-नौकर के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं था। मिशन के ही स्वामी अनुभवानन्द के एक सम्बन्धी (शायद भानजे) ने यह आश्रम बनवाया था। उनका पत्र पाकर ही इन्होंने संन्यासी के लिये – जितने दिन भी इच्छा हो ठहरने की व्यवस्था की थी।

वर्षा का मौसम था। चारों ओर पानी फैला हुआ था। आश्रम के बरामदे में ही घुटने भर जल था। मिट्टी का मकान खूब नमी थी। वह लड़का ही भोजन बनाता था – भात और अधिकांश दिन हरी मिर्च या कच्चे कुम्हड़े की सब्जी डालकर मसूर की दाल। रात में दो छोटे केले और थोड़ा-सा दूध मिलता था।

दो दिन आराम करने के बाद संन्यासी श्रीचन्द्रनाथ का दर्शन करने गया। उस दिन वर्षा बन्द थी। खा-पीकर निकला, क्योंकि मन्दिर काफी दूर था। सीढ़ियों से चढ़कर जाने में काफी कष्ट हो रहा था। वर्षा काल की गर्मी के कारण पसीने से बेचैनी हो रही थी, परन्तु कोई उपाय भी तो नहीं था।

सीढ़ियों के दोनों ओर घनघोर जंगल था – विशेषकर उस जाति के बाँसों का, जिनसे छातों की डण्डी बनती है। वर्षाकाल होने के कारण खूब लता-पत्तियों से भरा हुआ था। झिंगुरों का संगीत तो चालू ही था। परन्तु किसी पक्षी की सुमधुर ध्वनि संन्यासी के कानों में नहीं आयी।

सीढ़ियाँ पाँच सौ से अधिक थीं। संन्यासी करीब आधी सीढ़ियाँ चढ़ चुका था, तभी सामने की सीढ़ी पर देखा – एक छोटा-सा, बकरी के आकार का स्वर्णमृग बैठा हुआ आँखें फाड़-फाड़कर संन्यासी की ओर देख रहा था। उसका क्या ही सुन्दर चमकदार – कच्चे सोने के समान उसका रंग था। ऐसा मृग उसने जीवन में कभी नहीं देखा था – केवल रामायण में ही स्वर्णमृग की कथा पढ़ी थी। परन्तु उसका वास्तविक अस्तित्व तो किसी चिड़ियाघर या म्यूजियम में भी देखने को नहीं मिला था। काफी देर बाद दर्शन हुआ।

इसके बाद संन्यासी ने सोचा कि शायद पाला हुआ हिरण हो। धीरे-धीरे एक-एक सीढ़ी चढ़ते हुए, ज्योंही निकट पहुँचा, त्योंही वह उछलकर दो-चार सीढ़ियाँ ऊपर जाकर बैठ गया। फिर धीरे-धीरे थोड़ा पुचकारते हुए दो-तीन सीढ़ियाँ चढ़कर पास पहुँचा, वह झट से कूदकर सीढ़ियों के पास के जंगल में उतरकर बैठ गया। तब संन्यासी धोती को थोड़ा ऊपर बाँधकर ज्योंही जंगल में उतरा, त्योंही वह उछला और थोड़ा भीतर की ओर जाकर बैठ गया। उसका मुख देखकर ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह हँस रहा हो ! संन्यासी उसे पकड़ नहीं पा रहा है, इस पर उसे बड़ा मजा आ रहा हो ! सहसा संन्यासी को मानो सुनाई पड़ा – "यह क्या कर रहे हो !"

देखा कि चारों ओर से बड़ी-बड़ी जोंकें तेजी से उसी की ओर चली आ रही हैं। संन्यासी बोला – "मैं सीता नहीं हूँ, जो हरण कर लोगे !" इतना कहकर वह सीढ़ियों पर चढ़ गया तथा और भी थोड़ी देर तक देखता रहा। वह मानो चुनौती दे रहा था – "आओ न ! थोड़ा मजा देख जाओ !" इसके बाद संन्यासी बिना विलम्ब किये चढ़ाई करने लगा। हिरण वहीं बैठा-बैठा देख रहा था।

मन्दिर पहाड़ के ऊपर ठीक चोटी पर स्थित है। छोटा-सा मिट्टी का पहाड़ ! दूर समुद्र दिखाई देता है। चारों ओर

की दृश्यावली बड़ी सुन्दर है। मन्दिर में और कोई नहीं था। बिल्कुल निर्जन था। दरवाजे पर लगी जाली से बारम्बार प्रणाम करने के बाद कृतज्ञता प्रकट करते हुए बोला – "शायद तुम्हीं ने कहा था – 'यह क्या कर रहे हो !' लगता है कि वह 'मायामृग' है ! तुम्हारे यक्षों का अनुचर है।"

अस्तु। काफी समय तक शिव के सान्निध्य में बैठने के बाद सूर्यदेव के अस्ताचल गमन का समय हुआ देखकर संन्यासी नीचे उतरा। पहाड़ी के नीचे की ओर ब्राह्मण पुजारियों का घर है। जाकर दो-तीन लोगों से भेंट की और पूछा – "पहाड़ पर क्या 'स्वर्णमृग' रहता है?"

– "स्वर्णमृग? हम लोग तो ऐसा कुछ नहीं जानते।"

– "आप क्या अकेले ऊपर गये थे?"

– "हाँ, तो क्या हुआ?"

– "वहाँ भगवान के पास बहुत-से देवताओं का निवास है। इसीलिये अकेले जाना निषिद्ध है। बहुत-से लोग अकेले गये, तो फिर लौटकर नहीं आये।"

ब्राह्मण पुजारी प्राय: सर्वत्र ही समान हैं। उनमें से प्राय: अधिकांश में इसी प्रकार देव-माहात्म्य प्रचारित करने की मनोवृत्ति देखने में आती है। अस्तु।

शंकर मठ में एक रात

वहाँ सीढ़ियों के नीचे एक वृद्ध संन्यासी से भेंट हुई।

– "कब आये? कहाँ ठहरे हैं? आदि प्रश्नों के उपयुक्त उत्तर देने के बाद वे बोले – "उस टेकड़ी के ऊपर हम लोगों ने शंकर मठ की स्थापना की है। भवन-निर्माण अब भी पूरा नहीं हुआ है। चलकर देखिये।" संन्यासी उनके साथ गया।

सुन्दर हवादार मठ-भवन बन रहा था। मिट्टी की तीन-तीन हाथ मोटी दीवार और उसके भीतर बड़े-बड़े कमरे। तब भी दरवाजे तथा खिड़कियाँ नहीं लगी थीं। बोले – तैयार हो गयी हैं। अभी तक उद्घाटन नहीं किया गया है। वे लोग थोड़ी दूर पर स्थित नागाओं के अखाड़े में रहते थे। वे बोले – "आज रात यहीं रहिये। हम दोनों मिलकर इसका उद्घाटन करेंगे। बड़ा आनन्द होगा।" वृद्ध के आदेश को संन्यासी ने शिरोधार्य कर लिया। उन्होंने भोलागिरि आश्रम में सूचना भेज दी, ताकि लड़का चिन्तित न हो।

इनका नाम था स्वामी ब्रह्मानन्द गिरि। इनके तीन शिष्य वहाँ उपस्थित थे। उनमें से एक पूर्व बंगाल में जन्मे नीलानन्द स्वामी भी थे। नीलानन्द स्वामी उच्च शिक्षित तथा लब्ध-प्रतिष्ठ थे। दोनों के लिये एक-एक शीतलपाटी चटाई थी और सिर के नीचे लगाने के लिये एक-एक ईंट थी – रात को सोने के लिये इसी बिस्तर की व्यवस्था हुई। स्वामी ब्रह्मानन्द तथा संन्यासी इसी कमरे में रहेंगे।

ये खूब कठोर हठयोगी साधु थे। बारहों महीने एक घुटने तक के वस्त्र को छोड़ शरीर पर और कुछ भी नहीं रखते। केवल उबले हुए कुम्हड़े, लौकी आदि। उसमें न घी रहेगा और न नमक – यही था उनका दिन का भोजन। वैसे सभी लोग एक-एक सेर दूध पीते थे।

रात को उन वृद्ध महात्मा के साथ संन्यासी को बड़ा आनन्द आया। विभिन्न साधनाओं के विषय में बातें हुईं। वैसे वे हठयोग के प्रशंसक थे। उन्होंने बताया कि इन्द्रिय-संयम के बिना सिद्धिलाभ नहीं होता और इसके लिये हठयोग ही सर्वोत्तम उपाय है। संन्यासी इस विषय में श्रीरामकृष्ण के मत का समर्थक था, इसलिये चुपचाप सब सुनता गया। रात के दो बजे तक यही सब बातें चलीं।

सुबह ये लोग कुछ भी नहीं खाते – सब एकाहारी हैं। संन्यासी को उन्होंने गुड़, मुरमुरा तथा नारियल दिया और दोपहर को भिक्षा का निमंत्रण दिया। संन्यासी राजी हुआ।

सुबह विभिन्न बातों के बीच उस स्वर्णमृग की बात सुनकर वे सभी लोग विस्मित हुए। सभी लोग तो हर रोज काठ, बाँस आदि लाने जंगल में जाते हैं, परन्तु कभी दिखाई नहीं दिया। उनका मत था कि इसमें कोई दैवी बात है। कहाँ दिखा था, यह सबने पूछ लिया। यदि हिरण सचमुच ही होगा, तो वे उसे पकड़वाने की चेष्टा करेंगे। लाकर आश्रम में रखेंगे। संन्यासी के रहते-रहते हिरण नहीं मिला था।

भिक्षा के समय वही सब लौकी, कुम्हड़ा, अरवी; केवल संन्यासी के लिये अच्छा घी तथा नमक था, जो अखाड़ावालों से माँगकर लाया गया था। दूध तो था ही। अखाड़े में ही अच्छा शुद्ध दूध मिल जाता था। वे लोग बहुत-सी गायें रखते थे। वह आधा पहाड़ उस अखाड़े की ही जमींदारी में था। संन्यासी को यह खाना बड़ा पसन्द आया। इन वृद्ध के प्रेमपूर्ण व्यवहार से वह मुग्ध हो गया। वे भोलागिरि का आश्रम छोड़कर उन्हीं के साथ रहने को चले आने का आग्रह करने लगे और कहा कि यह भोजन यदि पसन्द न हो, तो अखाड़े के साधुओं से कहते ही वे लोग भिक्षा देंगे। वैसे संन्यासी अन्त तक भोलागिरि के आश्रम में ही रहा। केवल एक दिन और इनका निमंत्रण खाने आया था।

एक मजेदार घटना

भोलागिरि के आश्रम में संन्यासी दोपहर के समय भोजन आदि के बाद बैठा हुआ था। खूब वर्षा हो रही थी। आश्रम में चारों ओर कमर-भर पानी था। भीतर भी पानी घुसने की आशंका थी, परन्तु किया भी क्या जा सकता था ! देखा कि दो लोग पानी को पार करते हुए चले आ रहे हैं। संन्यासी को देखते ही दोनों धड़ाम से गिरकर साष्टांग हुए। उसके बाद एक ने कहा – "आपका नाम सुनकर आ रहे हैं। चटगाँव

गये थे। वहीं जमींदार बाबू ने कहा – जाओ, संन्यासी के पास जाओ। उनके कृपादृष्टि करने से ही तुम्हारा कार्य सिद्ध हो जायेगा। (उस समय आश्रम के कर्ता चटगाँव में ही थे।)

संन्यासी ने कहा – "अच्छा, वह बात बाद में होगी। पहले बताओ, कुछ खाना हुआ है क्या?"

– "खाना नहीं हुआ। किन्तु अन्न नहीं ग्रहण करूँगा, कृपादृष्टि हुए बिना अन्न नहीं ग्रहण करूँगा।" (उसका साथी भी सिर हिलाकर सहमति जता रहा था।)

संन्यासी – "पहले खाना बनाकर खा लो, उसके बाद बातें होंगी।"

– "पहले कृपादृष्टि कीजिये। मेरी बातें सुनिये, सुनना ही होगा। मैं ब्राह्मण ब्रह्मचारी हूँ। पहले आपसे निवेदन करूँगा। सुनना ही होगा।"

संन्यासी – "ठीक है। थोड़े-से मुरमुरे खा लो, उसके बाद तुम लोगों की बातें सुनूँगा। नहीं तो नहीं सुनूँगा।"

तब दोनों ने आपस में सलाह किया और मुरमुरे लेकर खाया। उसके बाद ब्रह्मचारी ने अपनी कहानी शुरू की।

– "जी, मैं ब्रह्मचारी हूँ, जमींदार बाबू के गाँव में रहता हूँ, शिव-पूजा करता हूँ। माँ के साथ रहता हूँ। घर बड़े कष्ट से चलता है। माँ ने कहा – तू विवाह कर ले। मैं बोला – मैं तो ब्रह्मचारी हूँ, विवाह कैसे करूँगा? माँ नहीं मानी। गाँव के लोग भी नहीं माने। विवाह कर दिया। ऊँऽऽ ऊँऽऽ ऊँऽऽ (रोना)। आपसे क्या कहूँ। बड़े दुःख में हूँ।

"एक दिन संध्या के समय तालाब में स्नान कर रहा था, तभी देखा – हाथ में त्रिशूल लिये जटा-जूट-मण्डित शंकर आये और बोले – मेरा मन्दिर – अच्छा मन्दिर बना ! नहीं तो इसी त्रिशूल से तुझे मार डालूँगा।" ' मैं निर्धन ब्राह्मण हूँ, ब्रह्मचारी हूँ। पैसे कहाँ पाऊँगा। कोई देता नहीं। सभी से कहा, लेकिन कोई देता नहीं। क्या करूँ? ऊँऽऽ ऊँऽऽ ऊँऽऽ (रोना)। तीन दिन बाद मेरी स्त्री मर गयी। बड़ा कष्ट है। बड़ा कष्ट है। क्या करूँ? इसके बाद माँ बोली, 'तू फिर से शादी कर।' गाँव के सभी ने कहा, 'फिर शादी कर।' बहुत कहा – अब और दुख नहीं सहा जाता, पर किसी ने नहीं सुना जी – विवाह कर दिया। अब मुझे भय लग रहा है कि कहीं यह भी न मर जाय। मन्दिर न होने पर शंकर मार डालेंगे। इसी कारण आपका नाम सुनकर आया हूँ। आप कृपादृष्टि कीजिये। कृपादृष्टि करनी ही होगी। नहीं तो हम लोग नहीं आते।"

संन्यासी ने कहा – "जमींदार बाबू तो स्वयं ही मन्दिर बनवा सकते हैं। मैं तो संन्यासी – फकीर हूँ, देने को पैसे नहीं हैं। और जिन्होंने तुम लोगों को मेरे पास भेजा है, जरा उनका पत्र दिखाओ तो !" इस पर दोनों ने एक-दूसरे की ओर देखा। दूसरे ने कहा – "ठीक बात है जी।" तब संन्यासी ने अवसर देखकर कहा – "जाओ उनकी चिट्ठी ले आओ, तब उनको जो कुछ लिखना होगा, लिख दूँगा।" साथी ने सहमत होकर कहा – "यही ठीक है, लेकिन चटगाँव जाने के लिये पूरा भाड़ा नहीं है। क्या किया जाय?" साथी नाई था। अच्छा आदमी था। संन्यासी ने भाड़े के बाकी पैसे देकर उन्हें विदा किया।

कनखल – भिक्षाटन के अनुभव

परमपूज्य राजा महाराज ने काशी में संन्यासी से कहा था कि माधुकरी भिक्षा करके खाना अच्छा है। इससे अभिमान दूर होता है। कुल और विद्या का अभिमान पूर्णतः चला जाता है और माधुकरी का अन्न पवित्र भी होता है। संन्यासी ने उनके वहीं निवास-काल में ही माधुकरी आरम्भ कर दिया।

संन्यासी कनखल में था। सेवाश्रम का कर्मी था, परन्तु भिक्षा के द्वारा उदरपूर्ति करता। भिक्षा सत्र से ले आता, परन्तु इससे बड़ी असुविधा होती थी। कारण यह था कि सत्र सुबह आठ बजे शुरू होता और नौ-सवा नौ बजे तक बन्द हो जाता। ठीक कार्य के समय दौड़कर तीन स्थानों से दो-दो बड़ी रोटियाँ तथा एक-एक करछुल दाल लाकर रख देता और उसी को बारह बजे खा लेता। उन दिनों सेवाश्रम में सुरेन भी था, जिसे बाद में रंगून भेजा गया था। सुबह जो नाश्ता दिया जाता, वह अति सामान्य होता। उससे सुरेन की भूख नहीं मिटती थी। सेवाश्रम के पास ही आत्मप्रकाश का सत्र था। उन लोगों को बोलकर चार रोटियाँ और दाल लाकर वह खा लेता। संन्यासी ने ही व्यवस्था कर दी थी। संन्यासी के प्रति उसका अनुराग था; अतः संन्यासी जब खाता, तो वह उसे सेवाश्रम की ओर थोड़ी सब्जी या दाल दे देता।

एक दिन स्वामी परमेशानन्द ने कहा, "माधुकरी के लिये दोपहर में बारह बजे जाने से भी तो हो जायेगा।" कार्य में क्षति न हो, यह सोचकर संन्यासी माधुकरी के लिये ब्राह्मणों के मुहल्ले में गया। पहले ही घर में देखा कि बड़े दरवाजे के पास खाट पर कोई सोया हुआ है और सम्भवतः गृहिणी खड़ी-खड़ी उससे बातें कर रही है। उसने दरवाजे के सामने खड़े होकर ज्योंही 'नारायण हरि' कहा, त्योंही वह ब्राह्मण मुँह बनाकर ऐसा चिल्लाने लगा कि क्या कहा जाय। संन्यासी को बड़ी चोट लगी। उसने सोचा कि उस दिन वह उपवास करके ही रहेगा, परन्तु उसके मन में बारम्बार स्वामीजी की यह उक्ति बारम्बार उठने लगी – "कोई तुम्हें माला पहनायेगा, तो कोई तुम्हें लात मारेगा।"

यह उक्ति याद आ जाने के कारण उसने अगले मकान में जाकर भी 'नारायण हरि' की पुकार लगायी। ब्राह्मण भोजन आदि करने के बाद मुख धो रहे थे। उन्होंने तत्काल गृहिणी

(शेष अगले पृष्ठ पर)

शील गये सब जात है

स्वामी सत्यरूपानन्द

अपनी महत्ता का अभिमान त्यागने पर ही ज्ञान की लिप्सा जागती है। सेवा परायणता और आज्ञाकारिता का सहज आचरण करने पर ही गुरु से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

देवराज इन्द्र के मन में भी एक बार जीवन का परम श्रेय जानने की इच्छा जागी। प्रेय से उन्हें शान्ति नहीं मिल पाई थी। देवाधिपति ने राजवैभव त्यागकर तपस्वी ब्राह्मण का रूप धारण किया और अपने गुरु बृहस्पति की सेवा में उपस्थित हुये। उन्हें पूछा – "भगवन्! जीवन का परम श्रेय क्या है?"

आचार्य ने जीवन के श्रेय की व्याख्या की, किन्तु इन्द्र सन्तुष्ट न हुये उन्होंने पुन: जिज्ञासा व्यक्त की – "गुरुवर! उससे भी श्रेष्ठ श्रेय क्या है?"

आचार्य ने सस्मित कहा – "वत्स! तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर दैत्य गुरु ऋषि शुक्राचार्य ही दे सकते हैं, तुम उनकी सेवा में जाओ।"

ज्ञान की पिपासा जिज्ञासु के हृदय से ऊँच-नीच और बड़े -छोटे का भाव दूर कर देती है। इन्द्र भी इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर दैत्यगुरु शुक्राचार्य की शरण में गये।

आचार्य शुक्र ने भी जीवन के परम श्रेय की विस्तृत व्याख्या की। किन्तु उससे भी इन्द्र को संतोष न हुआ। उन्होंने पुन: प्रश्न किया – "भगवन्! इससे भी श्रेष्ठ श्रेय क्या है?"

आचार्य ने उत्तर दिया – "वत्स! जीवन के श्रेष्ठतम, परम श्रेय का ज्ञान दैत्यराज प्रह्लाद को है। तुम उन्हीं की सेवा में जाओ। उनकी कृपा से ही तुम्हें जीवन के परम श्रेय का ज्ञान हो सकता है।"

ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र महाराज प्रह्लाद की सेवा में उपस्थित हुये! दैत्यराज से भी उन्होंने वही प्रश्न किया। ज्ञान के आलोक से आलोकित प्रह्लाद ने एक बार नखशिख पर्यन्त इस जिज्ञासु को देखा और कहा – "विप्र! मैं त्रैलोक्य की राज्य-व्यवस्था में व्यस्त हूँ, अत: मेरे पास समय नहीं है कि तुम्हें जीवन के परम श्रेय का उपदेश दे सकूँ।"

ज्ञान पिपासु के लिये प्रत्येक परिस्थिति अनुकूल, और प्रत्येक क्षण सीखने का सुअवसर होता है।

ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने कहा – "भगवन्! आप मुझे अपनी सेवा में रहने की अनुमति दे दीजिये। सेवा के मध्य जब कभी आप उचित समझें मुझे जीवन के परम श्रेय का उपदेश दे दीजियेगा।"

पहली परीक्षा में इन्द्र खरे उतरे। प्रसन्न चित्त प्रह्लाद ने समझ लिया कि विप्र को ज्ञान की सच्ची पिपासा है। उन्होंने स्नेहपूर्वक उसे अपनी सेवा में रहने की अनुमति दे दी।

इन्द्र अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरु प्रह्लाद की सेवा में तत्पर रहते तथा सतर्कतापूर्वक उनके आचरणों का निरीक्षण करते। एक दिन उन्होंने पूछा – "महाराज! आपको इस त्रैलोक्य का राज्य कैसे प्राप्त हुआ?"

प्रह्लाद ने कहा – "विप्रवर, मैं राजा हूँ – इस अभिमान में मैंने कभी भी ज्ञानीजनों की निन्दा या उनके उपदेशों की अवहेलना नहीं की। वे लोग मुझे जो भी उपदेश देते, उन्हें मैं एकाग्रतापूर्वक सुनता तथा उनके अनुसार आचरण करने का प्रयत्न करता हूँ। मैं सदैव सत्-संग में रहता हूँ। किसी के दोष नहीं देखता। क्रोध को जीत कर अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन रखता हूँ। यही श्रेय है, और राजा को इसका पालन करना चाहिये। इसके आचरण से सभी वैभव प्राप्त हो जाते हैं।"

पिछले पृष्ठ का शेषांश

को बुलाकर कहा, "रोटी ला दो।" – "दाल नहीं है।" – "थोड़ा गुड़ या अचार ला दो।" ला देने पर हाथ जोड़कर बोले, "महाराज, रोज आइयेगा।" गृहिणी से, "इनके लिये रख देना।" स्वामीजी की उक्ति की सत्यता का बोध हुआ।

परन्तु भिक्षा करके सेवाश्रम लौटते सब सूख काठ जैसा हो जाता, समय भी काफी हो जाता, डेढ़-दो बज जाते। इस कारण शरीर क्रमश: दुर्बल होने लगा। वैसे मन में खूब आनन्द था। एक दिन एक अवधूत के साथ बेंट हुई। इन्होंने ऋषीकेश में स्वामी विवेकानन्दजी के साथ तपस्या की थी। उन दिनों वे वहीं थे और स्वामीजी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। बोले – "तुम क्या आश्रम में ले जाकर खाते हो?" हाँ" – कहने पर बोले – "तब तो सब सूख जाता होगा! यह देखो, मैं तो हाथ में ही लेकर गरम-गरम खा लेता हूँ। तुम भी ऐसा ही करो, तो फिर गरम-गरम भोजन होगा।"

करतल भिक्षा – बड़ा अद्‌भुत है! यही ठीक है। अगले दिन से वह कमण्डलु में जल ले जाता और हाथ में ही भिक्षा ग्रहण करता। इससे अब कोई विशेष असुविधा नहीं रह गयी।

❖ (क्रमश:) ❖

इन्द्र ने अत्यन्त एकाग्रतापूर्वक श्रेय का रहस्य सुना और वे दैत्यराज की सेवा में पुन: तत्परता से प्रवृत्त हो गये। प्रह्लाद अपने इस शिष्य की सेवा से अत्यन्त प्रसन्न हुये और एक दिन उन्होंने कहा – "वत्स ! मैं तुम्हारी सेवा से प्रसन्न हूँ, तुम जो भी वर चाहो मुझसे माँग लो।"

इन्द्र ने नम्रतापूर्वक कहा – "भगवन् ! आपने मेरी सभी इच्छायें पूर्ण कर दी हैं। अब मुझे किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं है।"

प्रह्लाद ने पुन: आग्रह किया।

गुरु का आग्रह देख ब्राह्मण ने कहा – "प्रभु, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो कृपा करके मुझे अपना शील प्रदान कर दीजिये।"

ब्राह्मण द्वारा माँगे गये वरदान को सुनकर प्रह्लाद प्रसन्न हुये, किन्तु साथ ही उन्हें विस्मय भी हुआ। उन्होंने समझ लिया कि ब्राह्मण वेशधारी यह व्यक्ति अवश्य ही कोई विलक्षण पुरुष है। सत्यनिष्ठ प्रह्लाद ने अपना वचन पूर्ण किया और उसे अपना शील दे दिया।

वरदान देने के पश्चात प्रह्लाद अभी विचार कर रहे थे कि अब आगे क्या करना चाहिये, तभी एक अत्यन्त तेजोमय ज्योतिपुरुष उनके शरीर से बाहर निकलकर उनके सामने उपस्थित हुआ।

प्रह्लाद ने विस्मित होकर उस पुरुष से पूछा "भद्र ! आप कौन है?"

उस तेजस्वी पुरुष ने उत्तर दिया – "राजन्, मैं शील हूँ। आपने मुझे दान में दे दिया है अत: मैं जा रहा हूँ। अत: अब इस ब्राह्मण के शरीर में रहूँगा जिसे आपने वरदान दिया है।" यह कह कर शील अदृश्य हो गया।

शील के जाते ही प्रह्लाद के शरीर से वैसा ही तेजस्वी एक दूसरा पुरुष प्रकट हुआ। विस्मय-विस्फारित प्रह्लाद ने उससे भी वही प्रश्न पूछा।

उस तेजस्वी पुरुष ने कहा – "राजन् ! मैं धर्म हूँ। अब उस ब्राह्मण के पास जा रहा हूँ, क्योंकि मेरा निवास वहीं होता है, जहाँ शील रहता है।" यह कहकर धर्म भी अन्तर्धान हो गया।

तदनन्तर प्रह्लाद के शरीर से एक तीसरा तेजस्वी पुरुष प्रकट हुआ। राजा ने उससे भी परिचय पूछा।

उसने कहा – "असुरराज ! मैं सत्य हूँ। मैं धर्म के पास जा रहा हूँ। धर्म ही मेरा निवास स्थान है। धर्म में ही मेरी स्थिति है।" यह कहकर सत्य भी अदृश्य हो गया।

सत्य के चले जाने पर, एक और पुरुष प्रकट हुआ। उसने अपना परिचय देते हुये कहा – "महाराज ! मैं सदाचार हूँ। मैं सत्य का अनुयायी हूँ। जहाँ सत्य रहता है, वहीं मैं भी रहता हूँ।"

सदाचार के चले जाने पर, भीषण शब्द करता हुआ एक अत्यन्त दृढ़ पुरुष प्रह्लाद की देह से प्रकट हुआ। उसने प्रह्लाद को बताया – "मैं बल हूँ। मैं सदाचार का सहयोगी हूँ। जहाँ सदाचार रहता है वहीं मेरा निवास स्थान है।"

इसके उपरान्त प्रह्लाद की देह से एक अत्यन्त रूपवती तेजोमयी देवी उत्पन्न हुईं। प्रह्लाद ने विस्मित होकर उनसे भी उनका परिचय पूछा।

देवी ने कहा – "असुर-राज ! मैं लक्ष्मी हूँ। जब तक तुम्हारे पास बल था, तब तक मैं भी थी; क्योंकि मैं बल की ही अनुगामिनी हूँ, अत: अब मैं बल के पास जा रही हूँ।" यह कहकर लक्ष्मी भी वहाँ से चली गईं।

प्रह्लाद बड़े व्याकुल हुये। उन्होंने देवी से कहा – "माँ ! तुम तो सत्यव्रता हो। मुझे सच-सच बताओ वह ब्राह्मण कौन था?"

देवी ने कहा – "राजन्। ब्रह्मचारी ब्राह्मण के वेश में साक्षात् इन्द्र ने तुम्हारा शिष्यत्व स्वीकार किया था। महात्मन् ! तुमने शील के द्वारा ही तीनों लोकों पर विजय पाई थी। तुम्हारी सेवा में रहकर यह बात इन्द्र ने समझ ली। इसीलिये उन्होंने तुमसे वरदान में शील माँग लिया। महाप्रज्ञ ! धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं सदा शील के ही आधार पर रहते हैं। अत: जो हमें प्राप्त करना चाहता है उसे एकाग्र चित्त से मन-प्राण-पूर्वक शील को ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। शील के आते ही शेष सब कुछ अपने आप ही प्राप्त हो जाता है।" ❑❑❑

पुरखों की थाती

यदिच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवाद-सस्येभ्यश्चरन्तीं गां निवारय।।

– यदि कोई एक ही कर्म के द्वारा सारे जगत् को अपने वश में करना चाहता हो, तो बस, वह परचर्चा-रूपी खेतों में अपनी जिह्वा-इन्द्रिय-रूपी गाय को चराना बन्द कर दे।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं प्रयोजनम्।।

– जो व्यक्ति अन्धा है, उसके लिये दर्पण की कोई उपयोगिता नहीं, उसी प्रकार जिस व्यक्ति की प्रज्ञा जाग्रत नहीं हुई है, वह धर्मग्रन्थों को पढ़कर भी उनका मर्मार्थ ग्रहण नहीं कर सकता। ❑❑❑

जयपुर, जोधपुर होकर वापसी

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसा सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

अलविदा खेतड़ी

स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों तथा शिष्यों के साथ खेतड़ी के सुखमहल में ११ दिन बिताये। २१ दिसम्बर को उन्हें जयपुर के लिये प्रस्थान करना था। 'ब्रह्मवादिन्' में स्वामी सदानन्द लिखते हैं – जब स्वामीजी के प्रस्थान का समय हुआ, तो राजा उनसे बिछुड़ने के लिये बिल्कुल भी तैयार न थे और जयपुर तक (लगभग सौ मील) उन्हें छोड़ने गये। वाकयात रजिस्टर के विवरण इस प्रकार हैं – **२१ दिसम्बर १८९७**, मंगलवार, शाम को साढ़े चार बजे राजासाहब स्वामीजी तथा उनके शिष्यों के साथ बग्घी पर सवार होकर जयपुर के लिए रवाना हुए। शाम को बवाई पहुँचे, तहसील में ठहरे; स्वामीजी के साथ बातें होती रहीं।

"बवाई से **२२ दिसम्बर** को चलकर १ बजे वे पीथमपुरी के सर में पहुँचे और रात को थोई में पहुँचकर भोजन तथा आराम किया। थोई से **२३ दिसम्बर** को ९ बजे रवाना होकर ७ बजे उन लोगों ने जयपुर में प्रवेश किया। "**२४ दिसम्बर** १८९७, मुकाम – **जयपुर**। स्वामीजी से बातें की।"

जयपुर में व्याख्यान

"**२७ दिसम्बर** १८९७। (शाम को) छह बजे राजासाहब स्वामीजी को साथ लेकर **गोविन्द दास के उद्यान** में गए; वहाँ स्वामीजी का व्याख्यान हुआ।" इस प्रसंग में स्वामीजी की जीवनी में लिखा है कि जयपुर में एक मन्दिर के प्रांगण में राजासाहब के सभापतित्व में एक सभा बुलाई गयी और स्वामीजी ने लगभग पाँच सौ श्रोताओं के सम्मुख व्याख्यान देकर सभी को सन्तुष्ट किया।

इसी दिन स्वामीजी ने जयपुर से अपने गुरुभाई स्वामी शिवानन्द के नाम एक पत्र लिखा – "बम्बई के गिरगाँव-निवासी श्री सेटलुर ने जिनके साथ मद्रास में रहते समय तुम्हारा घनिष्ठ परिचय हुआ था – अफ्रीका में रहनेवाले भारतवासियों के आध्यात्मिक अभाव को दूर करने के निमित्त किसी को वहाँ भेजने के लिए लिखा है। यह निश्चित है कि वे ही उस मनोनीत व्यक्ति को अफ्रीका भेजेंगे तथा उसका समस्त व्यय-भार भी स्वयं ग्रहण करेंगे।

"इस समय यह कार्य नितान्त सरल अथवा झंझटरहित प्रतीत नहीं होता है। परन्तु सत्पुरुषों को इस कार्य में अग्रसर होना उचित है। वहाँ का कार्य है – ऐसा करना जिससे भारतीयों का भला हो, पर यह कार्य इतनी सावधानी से करना होगा ताकि किसी नये झगड़े की सृष्टि न होने पाये। कार्य प्रारम्भ करने के साथ ही साथ फल-प्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं है; पर इसमें सन्देह नहीं कि आगे चलकर आज तक भारत के कल्याण के लिए जितने भी कार्य किये गये हैं, उन सभी कार्यों की अपेक्षा इसमें अधिक फल प्राप्त होगा। मेरी इच्छा है कि तुम एक बार इस कार्य में अपने भाग्य की परीक्षा करो। यदि इसमें तुम्हारी सहमति हो, तो इस पत्र का उल्लेख करते हुए तुम श्री सेटलुर को अपना निर्णय सूचित करना तथा अन्य समाचार पूछना। शिवा वः सन्तु पन्थानः। मेरा शरीर पूर्ण स्वस्थ नहीं है; पर मैं शीघ्र ही कलकत्ता रवाना हो रहा हूँ और स्वास्थ्य भी ठीक हो जायेगा।"[१]

"**२९ दिसम्बर १८९७**, स्वामीजी से बातें होती रही।

२४ से ३१ दिसम्बर तक स्वामीजी ने राजा साहब के सान्निध्य में जयपुर के 'खेतड़ी हाउस' में निवास किया। इन्हीं में से किसी एक दिन उन्होंने अपने साथ के गुरुभाइयों तथा शिष्यों (स्वामी अद्भुतानन्द, ब्र. हरिप्रसन्न, स्वामी सच्चिदानन्द, ब्र. सदानन्द तथा ब्र. शुद्धानन्द) को कलकत्ते रवाना कर दिया। खेतड़ी की स्वागत-सभा में उन्हें जो प्रणामी के रुपये मिले थे तथा वहाँ से विदा होते समय राजासाहब से प्राप्त ३०००/- रुपयों को भी उन्होंने स्वामी सदानन्द तथा बड़े सच्चिदानन्द के मार्फत (बेलूड़) मठ भेज दिया। अपनी जोधपुर आदि की यात्रा के लिये संगी तथा सेवक के रूप में उन्होंने केवल ब्रह्मचारी कृष्णलाल को ही अपने साथ रखा।

नये वर्ष के पहले दिन उन्होंने अजमेर के लिये प्रस्थान किया। वाकयात रजिस्टर में लिखा है – "**१ जनवरी**

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ३९३

१८९८, शनिवार। स्वामी विवेकानन्दजी फिर आए। राजा-साहब उन्हें दण्डवत प्रणाम कर उनसे बातें करते रहे। स्वामीजी आज रवाना होनेवाले हैं, अत: राजासाहब और मुन्शी जगमोहन लाल उन्हें पहुँचाने के लिए आठ बजे बग्घी पर सवार होकर स्टेशन पधारे। समय हो जाने पर जब स्वामीजी ट्रेन में सवार होकर अजमेर चले गए, तब राजा साहब वापस डेरे पर लौटे।''[२]

अजमेर तथा किशनगढ़ में

खेतड़ी राज्य के वाकयात रजिस्टर में उनके अजमेर रवाना होने की बात लिखी है। स्वामीजी की जीवनी के अनुसार वे किशनगढ़, अजमेर, जोधपुर, इन्दौर, खण्डवा आदि स्थानों को होते हुए कलकत्ते लौटे थे। स्वामीजी क्या अजमेर तथा किशनगढ़ में भी ठहरे थे? अक्तूबर १९८२ ई. में किशनगढ़ की 'विवेकानन्द-समिति' द्वारा प्रकाशित स्मारिका के अनुसार – "(उनकी किशनगढ़ की) दूसरी यात्रा में, अमेरिका की यात्रा के पश्चात् एक बार खेतड़ी से जयपुर होते हुए यहाँ पधारना हुआ था।... स्थानीय गेंदघर में तब आपका स्वागत तथा अभिनन्दन हुआ था। यहाँ से उसी दिन आप अजमेर के लिए प्रस्थान कर गये।''[३]

अजमेर में

स्वामीजी की जीवनी में लिखा है कि यात्रा के दौरान मार्ग में प्रत्येक स्टेशन पर बहुत-से लोगों ने एकत्र होकर उनका स्वागत किया था। अजमेर के स्टेशन पर एक ऐसे ही स्वागत का विवरण उपलब्ध है। वहाँ के गवर्नमेंट कॉलेज के इतिहास विभाग की प्राध्यापिका श्रीमती डॉ. नन्दिता चैटर्जी भार्गव ने 'एक अविस्मरणीय घटना' शीर्षक लेख में इस विषय में कुछ प्रकाश डाला है। उन्होंने वर्तमान लेखक को अपने मूल बँगला लेख की एक प्रति भी उपलब्ध कराया है। वे लिखती हैं – "... जनवरी १, १८९८ ई. को वे जयपुर से रेलगाड़ी द्वारा रवाना हुए। यह रेलगाड़ी अजमेर से होती हुई जाती थी। जब यह शुभ समाचार अजमेर-वासियों को प्राप्त हुआ कि विश्ववरेण्य स्वामी विवेकानन्द की गाड़ी अजमेर स्टेशन से गुजर रही है, तो प्रात: से ही स्टेशन जन-सामान्य से भर गया। अमरनाथ (चट्टोपाध्याय) भी अपने प्रिय स्वामीजी के दर्शनार्थ स्टेशन पहुँचे। जब अमरनाथ स्टेशन पहुँचे, तो 'प्लेटफार्म' स्वामीजी के प्रशंसकों से खचाखच भरा हुआ था। नगर के लगभग दो सौ से भी अधिक विशिष्ट व्यक्ति फूल-मालाएँ लेकर उत्सुकता से स्वामीजी की गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे। भीड़ के कारण अमरनाथ को 'प्लेटफार्म' में खड़े तक होने का स्थान न मिलने पर वे स्टेशन के ही एक ऐसे स्थान के 'टिन-शेड' पर चढ़कर खड़े हो गये, जहाँ से चलती गाड़ी में भी उन्हें स्वामीजी भलीभाँति दिख सकते थे। उस समय अमरनाथ मन-ही-मन सोच रहे थे कि स्वामीजी अमेरिका से लौटे हैं। अब वे विश्व-विख्यात हैं। कितने ही राजा-महाराजा उनके स्वागत हेतु दण्डायमान रहते हैं। अजमेर स्टेशन ही नगर के विशिष्ट व्यक्तियों से भरा हुआ था, तो क्या स्वामीजी उनके समान एक अकिंचन व्यक्ति को अब पहचान पायेंगे? वे यही सब सोच ही रहे थे कि स्वामीजी की गाड़ी उस 'टिन-शेड' के सामने से निकली और स्वामीजी ने उस अपार भीड़ में भी अमरनाथ को देख लिया। स्वामीजी ने अमरनाथ को केवल पहचाना ही नहीं, परन्तु उनका नाम लेकर पुकारा – 'अमरनाथ ! अमरनाथ !' और मधुर मुस्कान सहित हाथ भी हिलाते रहे। यह देख अमरनाथ आश्चर्यचकित होकर अभिभूत हो गये। यह अनमोल क्षण – यह मधुर स्मृति उनके हृदय में सदा-सदा के लिये अंकित हो गयी। मृत्यु-पर्यन्त वे उस पवित्र दिन की अविस्मरणीय घटना को बारम्बार स्मरण करके सबको बतलाते रहे – वह दिन, वह घड़ी, जब ठाकुर के प्रिय नरेन ने उन्हें भीड़ में भी पहचान लिया था और हाथ हिलाते हुए आवाज दी थी – 'अमरनाथ ! अमरनाथ !' ''[४]

जोधपुर में

स्वामीजी १ जनवरी को जयपुर से रवाना होकर सम्भवत: २ या ३ तारीख को जोधपुर पहुँचे। जोधपुर में वे राज्य के प्रधानमन्त्री राजा सर प्रताप सिंहजी के अतिथि के रूप में आठ-दस दिन रहे। महाराज सर प्रतापसिंह (१८४४-१९२२) खेतड़ी-नरेश के एक घनिष्ठ मित्र थे। १८७५ से १८९५ तक वे जोधपुर रियासत के प्रधानमंत्री रहे और उसके बाद राजकुमार के बालिग होकर राजगद्दी सँभाल लेने के बाद १८९५ से १८९८ तक वे रियासत के रीजेंट (मुख्य प्रशासक) नियुक्त हुए।

स्वामीजी के जोधपुर-निवास के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती, परन्तु कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं। वहाँ कुछ सभाएँ तथा उनके व्याख्यान तो अवश्य हुए होंगे, परन्तु इनका कोई उल्लेख या विवरण अभी तक नहीं मिल सका है। कहते हैं कि पहले उन्हें रेलवे स्टेशन के सामने स्थित डाकबँगले* में ठहराया गया, परन्तु बाद में वे राजकीय अतिथि-शाला या सर प्रताप के बँगले में चले गये।

स्वामीजी के जोधपुर के सहयात्री ब्र. कृष्णलाल (बाद में स्वामी धीरानन्द) ने परवर्ती काल में बताया था – "उनके

२. Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter, P. 124, 133

३. स्मारिका १९८२ – 'स्वामी विवेकानन्द और किशनगढ़', पृ. ९

४. 'विवेक-शिखा' मासिक, मार्च १९९१, पृ. २७-२८

* जोधपुर-निवासी श्री ओ.पी.एन. कल्ला का कहना है कि वह जोधपुर सहकारी बाजार के दाहिनी ओर उस जगह स्थित था, जहाँ अब राजीव गाँधी सहकार भवन बना हुआ है।

(स्वामीजी) साथ हम लोग जोधपुर के मैनेजर के घर में थे। हरिद्वार से एक व्यक्ति साधु के वस्त्र पहने आये। स्वामीजी को एक ठोंगा जलेबी दिया। परन्तु उन्होंने किसी को खाने नहीं दिया। राजा के हाथी को खिलाया। आगन्तुक व्यक्ति आश्रम बनाने हेतु रुपयों के लिए आये थे। उनकी इच्छा थी कि वे राजा के साथ परिचय कराकर उन्हें कुछ दिलवा दें। स्वामीजी अपनी सीमा समझते थे। उनके साथ मैनेजर का अच्छा सम्बन्ध था। पर स्वयं अग्रसर होकर राजा से कुछ नहीं कहा। सेवियर से दस रुपये दे देने को कहा। बस यहीं तक ! स्वामीजी हीला-हवाली पसन्द नहीं करते थे। साफ उत्तर, स्पष्ट बातें और दोष-स्वीकार पसन्द करते थे।''[५] उपरोक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि जोधपुर में स्वामीजी के साथ कैप्टेन सेवियर भी थे।

पहले खेतड़ी से स्वामीजी ने अमेरिका की भगिनी क्रिस्टिन के नाम एक पत्र लिखा और बताया था कि स्वास्थ्य सुधरने पर वे पुन: लिखेंगे। ४ जनवरी को स्वामीजी ने जोधपुर से उन्हें पुन: एक पत्र लिखा, जिसका अनुवाद इस प्रकार है –

स्वामीजी के हस्ताक्षर के पास लगा हुआ स्मारक-टिकट

जोधपुर, राजपुताना, ४ जनवरी, १८९८

प्रिय क्रिस्टिन,

तुम्हें स्नेह तथा नव वर्ष की शुभ-कामनाएँ भेजता हूँ। तुम्हारा हृदय उत्साहपूर्ण, शरीर सबलतर तथा आत्मा शुद्धतर हो – यही मेरी कामना है।

मैं अब भी मौसम-बैमौसम यात्रा कर रहा हूँ। कहीं-कहीं व्याख्यान देता हूँ और बहुत-सा कार्य भी कर रहा हूँ।

क्या इंग्लैंड के श्री स्टर्डी से तुम्हारी मुलाकात हुई है। सुना है कि वे डिट्राएट गये थे। क्या वे तुम्हें पसन्द आये?

मैं सकुशल हूँ और सबल महसूस कर रहा हूँ। इसी सौभाग्यपूर्ण वर्ष में एक बार फिर मैं तुमसे अमेरिका में मिलने की आशा करता हूँ।

कुछ ही दिनों के भीतर मैं कलकत्ते जा रहा हूँ और जाड़े का बाकी मौसम वहीं बिताने का विचार है। अगली गर्मियों में, इंग्लैंड या अमेरिका के लिये प्रस्थान करने की काफी सम्भावना है।

प्रभु में सदैव तुम्हारा, विवेकानन्द[६]

५. स्मृतिर आलोय स्वामीजी, प्रथम सं., पृ. १७९-८०

६. Complete Works , Vol. 9, p. 100

स्वामीजी के जोधपुर-आगमन की शताब्दी के उपलक्ष्य में डाक विभाग द्वारा जारी एक विशेष आवरण तथा मुहर
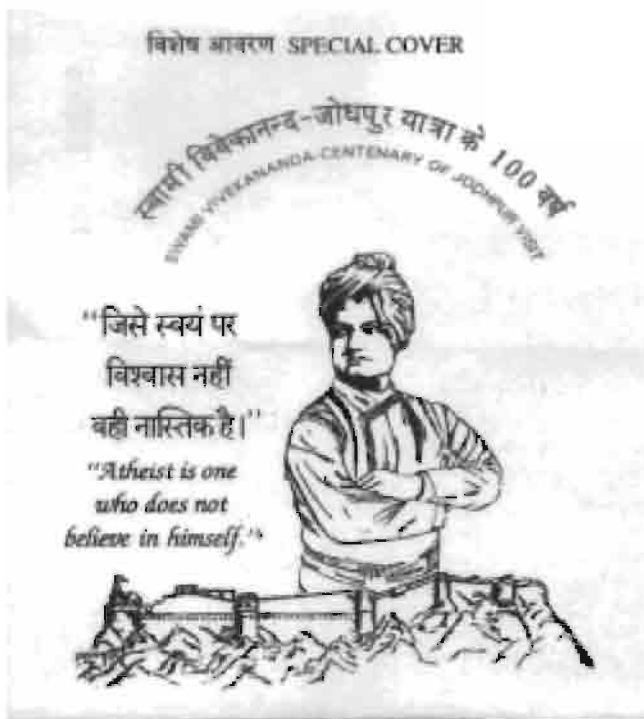
इस पत्र में स्वामीजी का एक स्मारक-टिकट चिपकाया हुआ है, जिसका चित्र यहाँ मुद्रित किया जा रहा है। इस टिकट पर इंग्लैंड में उनका लिया हुआ चित्र मुद्रित है, जो हमें जयपुर आश्रम के सचिव स्वामी पूज्यानन्द जी से प्राप्त हुआ था। अनुमान लगाया गया है कि सम्भवत: जोधपुर के प्रधानमंत्री ने स्वामीजी के सम्मान में यह टिकट भी जारी किया था। फिर दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती है कि खेतड़ी के महाराजा ने ही अपने गुरुदेव के आगमन के उपलक्ष्य में यह स्मारक-टिकट मुद्रित कराया हो।

१९९८-९९ में स्वामीजी के जोधपुर-आगमन की शताब्दी भी मनायी गयी और उसके उपलक्ष्य में भारत सरकार के डाक विभाग ने एक विशेष आवरण तथा मुहर भी जारी किया, जिसकी एक प्रतिलिपि यहाँ प्रस्तुत है।

इस शताब्दी के उपलक्ष्य में १६ नवम्बर १९९८ को मेहरानगढ़ दुर्ग के दौलतखाना चौक में एक सभा आयोजित की गयी थी। अगले दिन 'राजस्थान पत्रिका' तथा 'दैनिक भास्कर' में प्रकाशित हुए समाचार के अनुसार सभा के प्रारम्भ में समिति के संयोजक श्री ओ.पी.एन. कल्ला ने अतिथियों का स्वागत किया। तदुपरान्त मुख्य अतिथि के रूप में सभा को सम्बोधित करते हुए पूर्वनरेश महाराजा गजसिंहजी ने कहा – ''स्वामी विवेकानन्द से प्रेरणा लेकर देश में धार्मिक जागृति पैदा करने के लिये युवा पीढ़ी को आगे आना चाहिये। राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता के लिये वेदों, संस्कृति तथा भारतीय दर्शन में समन्वय जरूरी है।

''स्वामी विवेकानन्द आधुनिक पीढ़ी के पथ-प्रदर्शक हैं और समाज के उत्थान के लिये उनका सन्देश सार्थक साबित हो सकता है। विवेकानन्द आधुनिक पुरुष के रूप में जाने जाते हैं, पर मौजूदा आधुनिकता की दौड़ में भाग रहे युवकों को अपनी संस्कृति की रक्षा भी करनी चाहिये। स्वामी विवेकानन्द के सन्देशों को जन-जन तक पहुँचाने के लिये समन्वित प्रयास किये जाने चाहिये।

''तत्कालीन महाराजा सरदारसिंह तथा सर प्रतापसिंह के आमंत्रण पर स्वामीजी जोधपुर आये थे। उनकी राजस्थान यात्रा की अधिकाधिक जानकारी प्राचीन अभिलेखों में मिलती है, जो अभी बीकानेर के अभिलेखागार में है। इन अभिलेखों के गहन शोध की जरूरत है। उन्होंने कहा कि विवेकानन्द के सन्देशों से न केवल स्वतंत्रता सेनानियों ने प्रेरणा ली, अपितु देश के हर कोने में जन-जागृति व देशप्रेम की लहर उत्पन्न हुई। विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार करना विवेकानन्द का सबसे अहम कार्य था।

''स्वामी विवेकानन्द के राजस्थान और जोधपुर प्रवास के सम्बन्ध में और अधिक जानकारियाँ जुटाने के लिये शोधार्थियों को समर्पित भाव से आगे आना चाहिये।... स्वामीजी मेहरानगढ़ भी आये थे तथा माँ चामुंडा के दर्शन कर महल का अवलोकन किया। किले में उनकी याद चिर-स्थायी बनाने के लिये जगह-जगह आदमकद तसवीरें लगायी जायेंगी, जिन पर उनके मेहरानगढ़ आने का विवरण अंकित होगा।

इसके बाद **खण्डवा** पहुँचकर जब वे अपने पूर्वपरिचित वकील श्रीयुत हरिदास चट्टोपाध्याय के घर ठहरे तो उन्हें जोर का बुखार चढ़ा हुआ था। आठ-दस दिनों तक सबकी हार्दिक सेवा-शुश्रूषा से जब उनका ज्वर उतर गया तो उन्होंने पुन: अपनी यात्रा आरम्भ की। खण्डवा से चलकर वे क्रमश: **रतलाम** जंक्शन के स्टेशन पर पहुँचे। उस समय उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था, विश्राम नितान्त आवश्यक हो गया था। अतएव यद्यपि गुजरात, बड़ौदा तथा बम्बई प्रेसीडेन्सी के विभिन्न स्थानों से, प्रचार कार्य के लिए आने का आग्रह करते हुए उनके पास अनेक टेलीग्राम तथा पत्र आ रहे थे, तथापि उन्होंने उन सबको अस्वीकार करते हुए, गुजरात की ओर न जाकर कलकत्ता लौटने का ही निश्चय किया। मार्ग में जबलपुर स्टेशन पर बहुत से लोग उनका स्वागत करने को उपस्थित थे; परन्तु वे उतरे नहीं, सीधे कलकत्ते चले आए।

❖ (क्रमश:) ❖

स्वाधीनता से विकास

स्मरण रखो कि विकास की पहली शर्त है - स्वाधीनता। जिसे तुम बन्धनमुक्त नहीं करोगे, वह कभी आगे नहीं बढ़ सकता। यदि कोई अपने लिए शिक्षक की स्वाधीनता रखते हुए सोचे कि वह दूसरों को उन्नत कर सकता है, उनकी उन्नति में सहायता दे सकता है और उनका पथ प्रदर्शन कर सकता है, तो यह एक निरर्थक विचार है, एक भयानक मिथ्या बात है, जिसने संसार के लाखों मनुष्यों की उन्नति में अड़ंगा डाल रखा है। तोड़ डालो मानव के बन्धन! उन्हें स्वाधीनता के प्रकाश में आने दो। बस, यही विकास की एकमात्र शर्त है।

– स्वामी विवेकानन्द

श्रीमाँ की स्मृति

स्वर्ण कुमारी देवी

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

मेरे पति का नाम है उपेन्द्र चन्द्र राय और हमारा मूल निवास पूर्व बंग (बांग्लादेश) में है। उन दिनों हम लोग राँची में रहते थे। वहाँ रहनेवाले बेलूड़ मठ के भक्त लोगों के साथ मेरा परिचय था। उन्हीं से मुझे माँ की बातें सुनने को मिलीं। उन्हीं के सम्पर्क-सूत्र से मैं तथा मेरे पति ने बागबाजार में 'माँ के घर' (उद्बोधन कार्यालय) जाकर माँ का दर्शन किया तथा दीक्षा के लिये प्रार्थना की। माँ ने कृपा करके हमारी प्रार्थना स्वीकार किया। 'माँ के घर' में ही हमारी दीक्षा हुई। दीक्षा का दिन, तिथि आदि ठीक याद नहीं, परन्तु सम्भवत: वह १९१९ ई. का साल था।

हमें माँ के साथ अलग से बातें करने का कोई खास अवसर नहीं मिला; जो भी बातें हुईं, वे दीक्षा के समय ही हुईं। तो भी एक दिन की बात याद आती है। मैं 'माँ के घर' उनका दर्शन करने गयी थी। उनके कमरे में बहुत-सी महिलाएँ बैठी थीं। माँ को प्रणाम करके मैं एक तरफ बैठ गयी। इस समय मेरी आयु कम थी और मैं नयी-नयी गृहवधू थी। स्वभाविक रूप से ही मैंने वहाँ कोई बात नहीं की – केवल माँ की बातें सुनती रही। माँ ने क्या-क्या बातें कही, यह तो मुझे याद नहीं, केवल इतना ही याद है कि माँ की आवाज बड़ी मधुर थी और वे मृदु स्वर में धीरे-धीरे बोल रही थीं। माँ के सिर के बाल खूब सुन्दर घने काले तथा रेशम की भाँति महीन थे। मैं बार-बार माँ के उन सुन्दर बालों की ओर देख रही थी। मेरी खूब इच्छा हो रही थी – "काश ! यदि मैं माँ के बालों को थोड़ा स्पर्श कर पाती !" मैं जानती थी कि यह असम्भव है। मुझमें इतना साहस भी नहीं था कि मैं माँ के समक्ष अपने मन की इच्छा को व्यक्त कर पाती। परन्तु कैसी आश्चर्य की बात है ! ज्योंही यह बात मेरे मन में उठी, त्योंही माँ ने मेरी ओर देखकर मुझे अपने पास बुलाया। मैं डर गयी। अस्तु। माँ के पास जाने पर माँ ने बड़े स्नेहपूर्वक कहा, "सिर खुजला रहा है, जरा सिर पर हाथ फेर दे तो बेटी !" मैं तो अवाक् रह गयी। स्वयं को सँभालकर मैंने माँ के केश स्पर्श किये। समझ गयी – 'माँ जगज्जननी हैं – अन्तर्यामिनी हैं। वे सबके मन की बातों को जान सकती हैं।'

एक घटना और बताती हूँ। मेरे पति उस समय अन्तिम शय्या पर थे। १ जुलाई १९३७ ई. का दिन था। वे सहसा बोल उठे, "तुम लोग रोओ मत। ठाकुर मुझे लेने आये हैं; मैं जा रहा हूँ।" कहते-कहते उन्होंने आँखें मूँद लीं। बाद में मैंने सुना कि ठाकुर ने माँ से कहा था, "तुम जिन्हें आश्रय दोगी, उनके अन्तिम समय मैं स्वयं आकर उन्हें ले जाऊँगा। अपने पति के सन्दर्भ में भी मैंने देखा कि ठाकुर ने उन्हें स्वीकार करके उनकी रक्षा की है।

माँ की स्मृति

मंजुलाली मित्र

(बलराम बसु की पौत्री तथा रामकृष्ण बसु की ज्येष्ठ पुत्री।)

होश सँभालने के बाद से ही माँ को देखा है। माँ हमारे परिवार की मध्यमणि थीं। कितनी ही बार मैं माँ की गोद में या पीठ चढ़ी हूँ, उनका कितना स्नेह-प्रेम पाया है ! वे सारी बातें याद आने पर आँखों में आँसू भर जाते हैं। उस समय तो मैं माँ की महिमा की कल्पना भी नहीं कर पाती थी। कुछ समझती ही नहीं थी। अब भी क्या समझ सकी हूँ ! वे मेरी अपनी माँ से भी अधिक अपनी थीं। आज सोचती हूँ कि कितने जन्मों के पुण्य से उनके श्रीचरणों में आश्रय मिला। अब पश्चाताप होता है कि क्यों नहीं मैंने उनका और भी अधिक संगलाभ किया।

मेरी माँ कहती, "माँ के केश सँवार दे। पर सावधान ! एक भी बाल फेंकना मत ! सँभाल कर रख देना।" मेरी माँ, श्रीमाँ के केश यत्नपूर्वक बक्से में रख देती। श्रीमाँ का भोजन हो जाने के बाद उनके पत्तल में जो कुछ पड़ा रह जाता था, मेरी माँ उसे महाप्रसाद समझकर परम तृप्ति के साथ स्वयं खाती और हम सबको भी देती। थाली के नीचे फर्श पर या बगल में कुछ गिरा रहने पर, माँ बड़े यत्न से उसे उठाकर अपने मुँह में डालती। हम लोगों को भी सिखाती – "चुन-चुनकर उठा ले। महाप्रसाद है !"

❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१४२. दान करो, अभिमान न रखो

सिन्धुदेश की राजमाता मीणल देवी भगवान शिव की भक्त थीं। एक बार वे सोमनाथ गईं। उनके देव-दर्शन के बाद राजकुमार सिद्धराज ने स्वर्ण से उनका तुलादान किया और सारा सोना गरीबों में बँटवा दिया। उसने गरीब किसानों का सारा लगान भी माफ करने की घोषणा की। इससे रानी को अभिमान हो गया कि उसके समान उदार दानी कोई दूसरा नहीं होगा। रात को भगवान शिव उसे दर्शन देकर कहा कि मन्दिर में एक गरीब बुढ़िया आयेगी। उसे अपना पुण्य देकर बदले में उसका पुण्य ले लेना। दूसरे दिन सुबह मन्दिर में एक गरीब बुढ़िया को देख रानी ने अपने पास का सारा धन उसे दिखाते हुये कहा, ''इसमें से जितना धन तुझे चाहिये ले ले और अपना पुण्य मुझे दे दे।'' बुढ़िया बोली, ''अपना पुण्य मैं किसी को नहीं दे सकती।'' रानी यह सुन चकित रह गयी। उसने पूछा, ''तूने ऐसा कौन-सा सत्कर्म किया है, जो अपने संचित पुण्य तू किसी दूसरे को देना नहीं चाहती?''

बुढ़िया बोली, ''निर्धन होने के कारण मैं बहुत दूर से पैदल चलकर यहाँ आयी हूँ। भिक्षा में मुझे जो भी रूखा-सूखा मिलता है, मैं मिल-बाँटकर वही खाती हूँ। आज ही एक पुण्यात्मा ने मझे थोड़ा-सा सत्तू दिया था। उसके आधे भाग का मैंने भगवान को भोग लगाया। बाकी आधे भाग को आये भक्तों में प्रसाद के रूप में बाँटा। जो भाग मेरे हिस्से में आया, उससे मैंने कल के व्रत का पारण किया। मैंने चार संकल्प लिये हैं। (१) अपने दैनिक आचार-व्यवहार में कोई व्यवधान न आने देना। (२) हर मौसम में व्रत का पालन करना, (३) दूसरों के धन का उपयोग न करना और (४) जो कुछ भी मिलता है उसे बिना किसी दम्भ के तथा मन से कामनारहित हो मिल-बाँटकर खाना। रानी ने यह सब सुना, तो उसका सारा अभिमान और दर्प नष्ट हो गया। उसने बुढ़िया को दण्डवत प्रणाम किया और कहा कि आज उसे जो शिक्षा मिली है, उसका वह आजीवन पालन करेगी।

१४३. बुराई का फल बुरा ही होता है

कंस के वध का समाचार सुनते ही उसका ससुर मगध - नरेश जरासन्ध आगबबूला हो गया और उसने बार-बार श्रीकृष्ण पर हमला करना शुरू किया, किन्तु हर बार उसे मुँह की खानी पड़ी। उसने करुष देश के राजा पौंड्रक तथा काशी -नरेश की भी सहायता ली, पर वे दोनों श्रीकृष्ण के हाथों मारे गये। काशीराज के पुत्र सुदक्षिण को जब श्रीकृष्ण के हाथों अपने पिता की मृत्यु की खबर मिली, तो उसने श्रीकृष्ण से बदला लेने का निश्चय किया। उसने निराहार रहकर भगवान शंकर की घोर तपस्या की। आशुतोष शिव ने प्रसन्न होकर जब उसे वर माँगने को कहा, तो वह बोला – ''मैं कृष्ण से अपने पिता की मृत्यु का बदला लेना चाहता हूँ। जब तक उसका वंश नष्ट नहीं होगा, मुझे कभी सुख-शान्ति नहीं मिलेगी।'' शंकरजी बोले – ''यदि तेरी यही इच्छा है, तो मैं तुझे एक कृत्या (पुतली) दूँगा, तू उसे जिस दिशा में फेंकेगा, वह सारा क्षेत्र जलकर राख हो जायेगा।''

सुदक्षिण ने भगवान शंकर से कृत्या को लिया और उसे द्वारका की दिशा में फेंक दिया। मगर अन्तर्यामी श्रीकृष्ण से यह बात छिपी न रह सकी। उन्होंने उसी ओर अपना सुदर्शन चक्र चला दिया। चक्र ने कृत्या की दिशा ही बदल दी और वह काशी की ओर मुड़कर वहाँ के एक वृक्ष से जा टकराई। इस टक्कर से एक प्रचण्ड अग्निपिण्ड तैयार हुआ और उसने काशी नगर को जलाकर राख कर डाला। बाद में 'वरुणा' और 'असी' नदियों के किनारे एक नवीन नगरी बसाई गई, जो आज भी वाराणसी नाम से जानी जाती है। न्याय-अन्याय का विचार किये बिना ही दूसरों को नष्ट करने की चेष्टा करनेवालों का अन्तिम परिणाम ऐसा ही होता है।

१४४. सभी कार्य महान् हैं

अब्राहम लिंकन जब राष्ट्रपति बने, तो उनके सम्मान में एक भोज आयोजित किया गया। भोज के बाद जब वे भाषण देने को मंच पर खड़े हुये, तो एक व्यक्ति जोर से चिल्लाया, ''लिंकन महाशय, आप कदापि न भूलें कि आपके पिता दूसरों के जूते सिला करते थे।'' लिंकन ने अविचलित भाव से उत्तर दिया, ''इस खुशी के क्षण में आपने मेरे पिता का स्मरण कराया, इसके लिये मैं आपका आभारी हूँ। आपने सच कहा कि मेरे पिता दूसरों के जूते सिला करते थे। वे एक कुशल चर्मकार थे, जिसके लिये मुझे उन पर गर्व है। अपनी कर्मनिष्ठा के कारण ही उन्हें ऐसी लोकप्रियता हासिल हुई थी। आपने शायद उनके जूते पहने भी होंगे। यदि वे आपको काटते हों, तो मुझे निस्संकोच बतायें। मुझे भी जूतों की सिलाई तथा मरम्मत का अनुभव है, अत: मैं उन्हें ठीक कर दूँगा। यह मेरा वंश-पराम्परागत व्यवसाय होने के कारण मुझे जूते सिलने में जरा भी शर्म नहीं आयेगी।''

साधना के सूत्र (२)

स्वामी माधवानन्द

बेलूड़ मठ, ३ सितम्बर, १९६४

साधक-जीवन में अग्रसर होने के लिये भगवान की कृपा ही प्रमुख आधार है। अब तो तुम्हारे गुरुदेव (स्वामी विशुद्धानन्द जी) इष्ट के चरणों में विलीन हो गये हैं। अत: सच्चे हृदय से सब कुछ ठाकुर को बताओ। वे परम प्रेममय, सर्वज्ञ तथा सर्व-शक्तिमान तो हैं ही। मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम्हारा उच्च आदर्श इसी जन्म में प्रतिफलित हो। तुम्हारे पत्र से तुम्हारी आन्तरिकता स्पष्ट रूप से समझ में आ जाती है। इस आन्तरिक पुकार को वे खूब सुनते हैं। गुरु भी जो कृपा करते हैं, वे समय देखकर ईश्वर की इच्छा समझकर तदनुरूप व्यवस्था करते हैं। तुम बिल्कुल भी हताश न होना; बल्कि जैसे उन्हें पुकार रहे हो, वैसे ही पुकारे जाओ। रवीन्द्रनाथ की एक कविता का अंश स्मरण आता है –

तुम्हारी करुणा किस मार्ग से किसे कहाँ
ले जाती है! मैंने तो सहसा नेत्र खोलकर
देखा कि वह मुझे तुम्हारे द्वार पर ले आयी है।

बेलूड़ मठ, मंगलवार, १६ अक्तूबर १९६२
(वार्तालाप से)

ईश्वर-प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। हमने गाड़ी-घोड़े, अच्छे मकान आदि के लिये जन्म नहीं लिया है। साधन-भजन के द्वारा भगवान को ही प्राप्त करना होगा। भगवान एक हैं, परन्तु उनके नाम तथा रूप अनेक हैं। इस बात को लेकर झगड़ने की कोई जरूरत नहीं। दक्षिणी भारत में विष्णु के भक्त शिव के मन्दिर में नहीं जाते और शिव के भक्त भी विष्णु के मन्दिर में नहीं जाते। अपने छोटे-से मन के द्वारा हम भला अनन्त को कैसे समझेंगे?

भगवान अति दुर्लभ वस्तु हैं। अपूर्व वस्तु हैं। वे धन-दौलत या पद-ऐश्वर्य नहीं देखते; केवल हृदय की बातें सुनते हैं। उनसे छोटे बच्चे के समान आवेदन-निवेदन करना। उनकी दया ही असल बात है। थोड़ा-सा भी साधन-भजन करने से वे आगे बढ़ आते हैं। स्वयं से जितना भी हो सके, प्रयास किये जाओ। पूर्व की ओर जितना ही आगे बढ़ोगे, पश्चिम उतना ही पीछे छूटता जायेगा। संसार की आसक्ति भी क्रमश: उतनी ही कम होती जायेगी। तुमने दीमक देखा है न! देखने में वह कितना छोटा होता है, परन्तु चेष्टा के द्वारा वह कितनी बड़ी वल्मीक बना लेता है। इसीलिये प्रयास तथा आन्तरिकता की आवश्यकता है। ज्वार आने पर फिर डाँड चलाने की जरूरत नहीं पड़ती। हवा मिल जाय, तो पाल उठाने मात्र से काम हो जाता है।

ठाकुर दया करके मनुष्य शरीर धारण करके आये हैं। वे परम गुरु हैं। उनके भीतर सभी भाव निहित हैं। अपना स्थूल शरीर त्याग देने के बावजूद वे अब भी भक्तों के हृदय में सूक्ष्म शरीर में विद्यमान हैं।

बेलूड़ मठ, गुरुवार, २५ अक्तूबर, १९६२

भगवान ही एकमात्र सार वस्तु हैं। बाकी सब छाया मात्र है। भगवान हैं, इस बात पर सोलह आने विश्वास करना चाहिये। इस युग में ठाकुर एक वैज्ञानिक के समान अपनी अनुभूति के द्वारा सब कुछ देखने के बाद ही बता गये हैं।

माँ उन्हें देवी के रूप में ही जानती थीं। इसीलिये उनका देहत्याग होने पर माँ रोते हुए कह उठी थीं – माँ काली, तुम कहाँ चली गयी?

माँ ने एक दिन उनकी चरण सेवा करते हुए पूछा था – तुम मुझे क्या समझते हो? ठाकुर तत्काल बोल उठे – जो माँ मन्दिर में भवतारिणी के रूप में पूजित हो रही हैं, वे ही इस समय नौबतखाने में (गर्भधारिणी माँ के रूप में) विद्यमान हैं और वे ही माँ इस समय मेरे पाँवों पर हाथ फेर रही हैं।

इसलिये तीनों ही एक हैं। ठाकुर पुरुष-शरीर में आये थे, तथापि उनका मातृभाव था।

खूब प्रयास किये जाओ। प्रारम्भ में तो आँखें मूँदते ही अँधेरा दिखता है। दिखने दो। इसी प्रकार चेष्टा करते-करते सब हो जायेगा।

बेलूड़ मठ, बुधवार, ३१ अक्तूबर, १९६२

ठाकुर ने जीव-रूप धारण किया और प्रार्थना करने की पद्धति सिखा गये। उन्हें चाहे जिस नाम से भी पुकारो, जान रखना कि भगवान एक ही हैं। पूरे मन-प्राण से पुकारते-पुकारते मन की सारी मलिनता चली जायेगी।

एक छोटा बच्चा जब पीड़ा होने पर रोते हुए पुकारता है, तो माँ दौड़ी हुई आ जाती है। एक मिनट की भी देरी नहीं करती। अत: धैर्य मत खोना। समय होने पर वे अवश्य आयेंगे। बिना समय हुए आने पर उनका महत्त्व नहीं समझोगे। ऐसी प्रतिज्ञा होनी चाहिये कि उनकी दया के सहारे मैं जी-जान से चेष्टा करूँगा; किसी भी हालत में छोड़ूँगा नहीं। वे भीतर ही बैठे हैं और सर्वत्र ओतप्रोत भी हैं।

भक्ति तुम्हारे भीतर ही है। नहीं तो तुम लोग यहाँ आते

ही क्यों? समय पाते ही उनका नाम जपते रहना। देखोगे कि संसार मधुमय हो उठेगा। गृहस्थी करने में कोई हानि नहीं है, परन्तु सांसारिकता का त्याग करना होगा। पानी में नाव रहे, परन्तु नाव में पानी आने से ही संकट की बात है। सभी को आश्रम या कानवेंट में सम्मिलित होने की जरूरत नहीं। हाथ में तेल मलकर कटहल फोड़ने के समान भक्ति का आश्रय लेकर गृहस्थी चलानी होगी। उन्हें पाना ही होगा, नहीं तो शान्ति नहीं मिल सकती। रुपये-पैसे आदि मिलने से सांसारिक सुख हो सकता है, परन्तु उन्हें पाये बिना सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती।

बेलूड़ मठ, गुरुवार, ६ दिसम्बर, १९६२

श्री चैतन्य देव नाम का माहात्म्य बता गये हैं। नामरूपी बीज वटवृक्ष के बीज के समान है। दीक्षा लेने के साथ-ही-साथ सब कुछ नहीं हो जायेगा। लेकिन होगा अवश्य। मंत्र की केवल आवृत्ति करने से ही काम नहीं होगा। उसके साथ ही अनुराग तथा आन्तरिकता की भी आवश्यकता है।

वे सर्वत्र विराजित हैं, परन्तु मानो छिपे हुए हैं। वे मानो परदे के पीछे से सब देख रहे हैं। वे एक शुभ दिन की प्रतीक्षा में बैठे हुए हैं। ठाकुर ने कहा है कि आन्तरिक होने पर एक-न-एक दिन अवश्य होगा। अनेक जन्म लेने पड़े हैं। मन में कितनी ही कामनाएँ थीं। उनकी थोड़ी-बहुत पूर्ति हुए बिना ईश्वर-दर्शन नहीं होता। कितनी संख्या में जप हुआ; कितनी प्रार्थना, स्तव-स्तुति आदि हुई – इन सब पर ध्यान देने की जरूरत नहीं। मन-प्राण देकर उन्हें खूब पुकारे जाओ।

तुमने उस लकड़हारे की कथा पढ़ी है न! उसी के समान क्रमशः आगे बढ़ते जाना होगा। विश्वास के साथ धीरे-धीरे अग्रसर होते जाओ।

***

प्रश्न – महाराज, सेवा के भाव से कार्य करना कैसा रहेगा?

उत्तर – सभी कार्य सेवा-बुद्धि से ही करो। स्वामीजी ने कहा है – Work is worship. कर्म ही पूजा है। उन्होंने प्रत्येक कार्य को पूजा के भाव से स्वीकार करने को कहा है। कोई भी कार्य छोटा नहीं है। वे सभी प्राणियों में विराजमान हैं – यही समझकर सोचना होगा कि मैं उन्हीं की सेवा कर रहा हूँ। जिस प्रकार मन्दिर में भगवान की सेवा की जाती है। सर्वदा एक भाव लेकर चलना होगा – मानो ठाकुर की विभिन्न मूर्तियाँ ही हमारी सेवा ग्रहण करने के लिये आयी हुई हैं। 'शिव-ज्ञान से जीव-सेवा' – इसी को व्यावहारिक वेदान्त कहते हैं।

तुम तो साधु होने के लिये आये हो। केवल 'वचनामृत' पढ़ने से काम नहीं चलेगा। ... स्वामीजी की पुस्तकें पढ़ना। स्वामीजी के माध्यम से ठाकुर को समझने का प्रयास करना।

एक बात और स्मरण रखना। संघ की सेवा ही ठाकुर की सेवा है। इसलिये सर्वदा विचार करना – मैं संघ की सेवा करने आया हूँ, या संघ की सेवा ग्रहण करने आया हूँ!

बेलूड़ मठ, सोमवार, २४ दिसम्बर, १९६२

आज ईसा मसीह के जन्मदिन की पूर्व-संध्या है। विशेष शुभ दिन है। मंत्र में विश्वास करके साधना करने पर अविद्या का नाश हो जाता है। आनन्द प्राप्त होता है। भगवान को प्रसन्न करने के लिये निष्ठा के साथ आन्तरिक भाव से निष्ठापूर्वक उन्हें पुकारते रहना होगा।

स्वयं को कभी दीन-हीन मत सोचना। जो हुआ, सो हुआ। उसके लिये चिन्ता मत करना। तुम लोग ठाकुर के सामने हठ करना। छोटे बालक के समान जिद करना, कहना – दर्शन क्यों नहीं दोगे? वे हम लोगों के अत्यन्त अपने जन हैं। परम आत्मीय हैं।

कोई सौ में निन्यानबे भला करे, तो भी साधारण व्यक्ति उसे भूल जाता है, परन्तु एक बुराई करने से उसी को याद रखता है। और भगवान? वे निन्यानबे दोषों को भुला देते हैं, परन्तु एक भी अच्छाई हो तो उसे याद रखते हैं। मनुष्य और भगवान में यही भेद है। समझे न! ठाकुर कहा करते थे – हम लोगों ने जब जितना भी उन्हें पुकारा है, उन्होंने उसे सुन रखा है। वे तो चींटी के पैर के नूपुर की ध्वनि तक को सुन लेते हैं।

ठाकुर को स्मरण करने, उनका चिन्तन करने की हमें विशेष आवश्यकता है। साक्षात् भगवान ही मनुष्य का रूप धारण करके आये थे। मनुष्य जिस चीज को लेकर उन्मत्त है, वे उस ओर नहीं गये। ... उनके मुख के द्वारा माँ-काली ही बातें करती थीं। इसीलिये उनकी बातें पढ़ने से मन को खूब बल मिलेगा। ऐसा लगेगा कि मुझे कोई भी डुबा नहीं सकता। वे सभी के लिये कितना रोये थे!

हम लोगों को यदि विलम्ब होता है, तो इसमें भगवान का या उनके नाम का दोष नहीं है। हमारे मन में बहुत-सी कामनाएँ भरी पड़ी हैं, इसीलिये ठीक-ठीक काम नहीं होता, इसीलिये देरी होती है। वे बाहर-भीतर – सर्वत्र ही छिपे हुए हैं। ❑❑❑

(बँगला पुस्तक 'भक्त्या माम् अभिजानन्ति' से अनुवाद)

भाग्य का मारा

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करते हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'रामेश्वर टांटिया समग्र' ग्रन्थ के कुछ अंश। – सं.)

रात के नौ बजे थे। भोजन करके कुछ पढ़ रहा था कि मकान के फाटक पर शोरगुल-सा सुनाई दिया। थोड़ी देर तो ध्यान नहीं दिया, परन्तु जब आवाजें रोने-चिल्लाने में बदल गई, तो नीचे जाना पड़ा।

देखा – २०-२५ लोग एक १२-१३ वर्ष के दुबले-से लड़के को घेरे हुए हैं, उसकी नाक और मुँह से खून निकल रहा है। लोग बीच-बीच में उसे दो-एक धौल भी जमा रहे हैं। पूछने पर पता चला कि यह लड़का पास के सिनेमा-घर के बाहर चने-मुरमुरे के खोमचे से दूकानदार की आँख बचा कर मुरमुरे लेकर भागता हुआ पकड़ा गया था। इससे मुहल्ले के बदमाश लड़कों को अपना जोर आजमाने का मौका मिल गया था और मारते-मारते इसकी यह हालत कर दी थी।

उस मासूम बच्चे के चेहरे पर करुणा की मार्मिक याचना देखी, तो खोमचेवाले को दो रुपये देकर विदा किया और अन्य सब लोगों को समझा-बुझाकर वहाँ से हटा दिया।

दरबान से कहा कि लड़के को भीतर ले आये। लड़का तब भी भय से काँप रहा था और अन्दर जाने में झिझक रहा था। शायद डर रहा था कि कहीं और मार न पड़े या कोई नई विपत्ति न आ पड़े। एक प्रकार से धकेलते हुए ही उसे लाया गया। मैंने प्यार से उसके सिर पर हाथ रखकर पूछा कि उसने ऐसा बुरा काम क्यों किया, तो वह सुबक-सुबक कर रोने लगा। थोड़ी देर तो वह कुछ बोल ही नहीं पाया। ऐसा लगता था कि मार और भूख से बहुत ही व्याकुल हो गया है। उसे बेहोशी-सी आ रही थी। उसे भोजन तथा साथ में एक गिलास गर्म दूध दिया, तब कहीं थोड़ा सँभल पाया।

मैंने उसे अगले दिन सुबह तक वहीं रहने को कहा, तो रोते हुए कहने लगा, "मेरी बीमार माँ घर में अकेली और कल से भूखी है। वह मेरी राह देख रही होगी। मुझे इतनी रात तक न पाकर बड़ी चिन्तित हो रही होगी, इसीलिए अभी घर जाने दीजिए।" साथ में कुछ खाने-पीने का सामान देकर अगले दिन फिर आने को कहकर उसे घर भेज दिया।

दो-तीन दिन बीत गए। लड़के की भोली सूरत भूल नहीं सका। दरबान को उसे बुलाने भेजा। आने पर देखा कि बालक के सिर तथा हाथ में पट्टी बँधी है और उसके साथ एक युवा किन्तु कृशकाय तथा बीमार-सी स्त्री भी है। साड़ी में जगह-जगह पैबन्द लगे हुए थे, चेहरे पर दैन्य और बीमारी की स्पष्ट छाया! फिर भी उसके नाक-नक्श की सुधराई से लगता था कि शायद कभी वह बहुत ही रूपवती रही होगी।

कहने लगी कि उस दिन मार से बच्चे को बुखार और कहीं-कहीं सूजन भी आ गयी थी। स्त्री के बोलने के लहजे से समझ गया कि पूर्वी बंगाल की है। उसने जो आत्मकथा सुनाई, वह इतने दिनों बाद भी भूल नहीं सका हूँ।

खुलना के पास किसी देहात में उनकी अच्छी-खासी खेती की जमीन थी। एक छोटा पोखर भी था। सब प्रकार से सुखी गृहस्थी थी। देश के विभाजन के बाद भी वे लोग वहीं रह गए। यद्यपि नाना प्रकार के कष्ट और अपमान झेलने पड़ते थे, परन्तु एक तो कहीं अन्यत्र आसरा नहीं था, दूसरे पूर्वजों के घर और जमीन आदि के प्रति मोह-ममता भी उन्हें गाँव छोड़कर चले जाने से रोके हुए थी।

१९५८ ई. में एक दिन अचानक ही गाँव के हिन्दुओं पर हमला बोल दिया गया। जो मुसलमान हो गए, उनके जान-माल बच गये। जिन्होंने सामना किया, वे मार डाले गए।

उसका पति कंठीधारी वैष्णव कायस्थ था। कभी गाँव का मुखिया भी था और दोनों समय घर के ठाकुरजी की पूजा-अर्चना करता था। वह किसी प्रकार भी धर्म त्याग करने को राजी नहीं हुआ। खुदा के बन्दों ने उसे काटकर पास के पोखर में डाल दिया। बेचारी विधवा पड़ोसियों के बीच-बचाव से किसी प्रकार अपने ८ वर्ष के बच्चे को साथ लेकर सीमापार भारत के 'बनगाँव' में आकर रहने लगी। साथ में जो थोड़ा-सा सामान था, उसे भी में रास्ते में लूट लिया गया।

उसने देखा कि वहाँ पर पहले से ही पाकिस्तान से आए हुए शरणार्थी बड़ी संख्या में हैं और सरकारी कैम्पों में किसी प्रकार पेट पाल रहे हैं। इनमें से बहुत से 'परमात्मा की दया' से अनेक प्रकार की बीमारियों से जल्दी-जल्दी मरकर रोज-रोज की यातनाओं से शीघ्र मुक्ति भी पा रहे हैं। शरणार्थी-कैम्प के इंस्पेक्टर के दुर्व्यवहार के कारण सुरमा ने अपने

बच्चे को साथ लिया और रास्ते के अनेक कष्ट झेलते हुए कलकत्ता आ गई। यहाँ उसे एक घर में दाई का काम मिल गया, रहने को एक छोटी-सी कोठरी भी। पर मुहल्ले के युवकों ने वहाँ भी उसे चैन से नहीं रहने दिया।

कई जगह भटकते हुए उसे ढकुरिया लेक के पास एक शरणार्थी-परिवार के यहाँ रहने का सहारा मिल गया। परन्तु केवल आवास की व्यवस्था से पेट की भूख नहीं मिटती। भीख माँगने में पहले-पहल तो उसे झिझक हुई, फिर आदत पड़ गयी और किसी तरह दो जून खाना मिलने लगा।

लड़का देखने में सुन्दर और बातचीत में चतुर था। सुबह शाम लेक पर जो सैलानी आते, वह उनकी मोटरों की सफाई और सम्हाल करता रहता। वे बख्शीश के तौर पर उसे दो-चार आने दे देते या कभी धमका कर ऐसे ही भगा देते।

एक दिन माँ को बुखार आ गया। सीलन भरी जमीन पर बिना चारपाई के सोने से और भूखजनित कमजोरी से ऐसा होना स्वाभाविक ही था। डॉक्टर को दिखाने का प्रश्न ही नहीं था। पड़ोस की एक वृद्धा ने लाकर उसे कुनैन की दो गोलियाँ दीं और लाई खाने को कहा। बच्चा उसे लाने के लिए घर से निकला। सारे दिन खड़े रहने पर भी उस दिन जब उसे कुछ भी नहीं मिला, तो माँ की भूख का ख्याल करके उसने सड़क पर के खोमचे से थोड़ी-सी लाई चुरा ली थी, परन्तु भागते हुए पकड़ लिया गया। यही कहानी थी जो उसकी माँ की जुबानी मैंने उस दिन सुनी।

लड़के की पढ़ाई नहीं के समान थी, इसलिए मैंने उसे अपने ऑफिस में चपरासी के रूप में रख लिया। यह कई वर्ष पहले की बात है। सुरेन अब बड़ा हो गया है, उसने कुछ अंग्रेजी और हिन्दी भी पढ़ ली है। मेरे यहाँ जितने कर्मचारी हैं, उनमें वह सबसे मेहनती और ईमानदार है। ❑
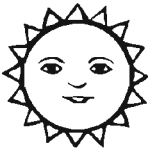
आनन्द, सुख, विश्राम रूप – श्रीराम
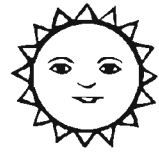
पं. मैथिलीशरण (भाईजी)
श्रीरामकिंकर विचार मिशन, ऋषिकेश

प्राणीमात्र की इच्छा होती है कि वह अपने जीवन में आनन्द, सुख तथा विश्राम प्राप्त करे, पर वास्तविक जीवन में ऐसा सम्भव होता दिखाई नहीं देता। इसका कारण यह है कि हम इनकी प्राप्ति का उपाय नहीं जानते। इच्छा, शक्ति और पद्धति – तीनों के मिलने से ही हम कोई कार्य ठीक ढंग से सम्पन्न करके अपनी अभीष्ट-प्राप्ति कर सकते हैं।

यदि हम राम-चरित-मानस तथा श्रीराम की जीवन-शैली को केवल आधिभौतिक दृष्टि से भी देखें, तो उसमें आधिदैविक तथा आध्यात्मिक परिपूर्णता के दर्शन होते हैं।

भगवान श्रीराम का अवतार, व्यक्ति के जीवन में शिक्षा के लिये सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। गोस्वामीजी कहते हैं – शुद्ध सच्चिदानन्द कन्द स्वरूप, सूर्यवंश की ध्वजा स्वरूप श्रीराम मनुष्यों के समान आचरण करते हैं, जो संसार-सागर के पार जाने के लिये पुल के समान हैं –

सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु ।। २/८७

आनन्द, सुख और विश्राम के स्वरूप को हम भगवान श्रीराम के जीवन से कैसे सीखें। भगवान के तीन नाम हैं – १. आनन्द २. सुख तथा ३. विश्राम। भगवान के जन्म के बाद गुरु वशिष्ठ ने चारों भाइयों के नाम रखते समय सबसे बड़े श्रीराम का नामकरण करते हुए उन्हें ये तीन विशेषण दिये। वे कहते हैं – ये जो आनन्द के समुद्र और सुख की राशि हैं, जिनके कण मात्र से तीनों लोक सुखी होते हैं, इनका नाम मैं 'राम' रखता हूँ; यह नाम समस्त सुखों का धाम तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को शान्ति प्रदान करनेवाला है –

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी।।
सो सुखधाम राम अस नामा।
अखिल लोक दायक बिश्रामा ।। १/१९७/५-६

विचित्र बात यह है कि ये नाम तो भगवान के हैं, किन्तु श्रीराम ने आनन्द भी दूसरों को दिया, सुख भी दूसरों को दिया और विश्राम भी दूसरों को ही दिया। बस, यही जीवन का बड़ा सूत्र है, जिसके ऊपर रामराज्य की आधार-शिला टिकी हुई है। इसी को कहते हैं भोग का त्याग। भोग अच्छा है, यदि वह दूसरों को दिया जाय और त्याग श्रेष्ठ है, जब स्वयं किया जाय।

संसार में सर्वत्र मतभेद और झगड़ों का कारण केवल एक ही दिखाई देता है – व्यक्ति आनन्द, सुख तथा विश्राम तो स्वयं लेना चाहता है और विषाद, दु:ख तथा श्रम दूसरों को देना चाहता है। उसका कारण एक ही है कि हमने मान लिया कि सुख बाह्य वस्तुओं, सत्ता तथा भोगों की उपलब्धि में ही है और उनके छिन जाने या अभाव में दु:ख है।

श्रीराम का चिन्तन इसके ठीक विपरीत है। जब उन्हें युवराज पद पर आसीन कराये जाने का समाचार मिला, तो

वे तनिक भी प्रसन्न नहीं हुये, अपितु उल्टे वे यह सोचकर खिन्न हो गये कि हमारे रघुवंश में सारी परम्पराएँ तो श्रेष्ठ हैं, पर केवल एक ही परम्परा अनुचित है – छोटे भाइयों के रहते हुए बड़े को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया जाता है –

बिमल बंस यहु अनुचित एकू ।
बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ।। २/१०/५-७

यदि आपको सुख चाहिये, तो दूसरों को सुख देना शुरू कीजिये। यदि आपको विश्राम लेना है, तो दूसरे लोगों का श्रम हरण करने का प्रयास कीजिये। वस्तुतः सुख लेने की नहीं, बल्कि देने की वस्तु है। जो केवल स्वयं ही सुख लेना चाहता है, वह वस्तुतः दुःख को खरीद रहा है।

माँ कौशल्या ने जब राम से कहा – पुत्र, कुछ फलाहार कर लो, क्योंकि राज्याभिषेक में न जाने कितनी देर लग जाय और तुम्हें भूखे रहना पड़े। तो भगवान ने माँ से यह उलाहना नहीं दी कि पिताजी ने अब मुझे राज्य देने से इनकार कर दिया है, अपितु उन्होंने कहा – माँ, पिताजी ने मुझे युवराज के स्थान पर अब पूर्ण राजा बनाने का संकल्प किया है। उन्होंने मुझे वन का साम्राज्य प्रदान किया है, परन्तु इसके लिये मुझे इस राज्य को छोड़कर जाना पड़ेगा –

पिता दीन्ह मोहि कानन राजू ।
जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू ।। २/५३/६

यह है जीवन दर्शन ! जब अभाव में सुख की अनूभूति की जा रही हो और सबसे बड़े सुख का कारण यह हो कि मेरे स्थान पर छोटे भाई को राजा बनाया जायेगा। माँ कैकेयी तो मात्र एक कारण के रूप में दिखायी देती हैं। वस्तुतः श्रीराम की ही इच्छा थी कि भरत राजा बनें। व्यावहारिक रूप में रामराज्य की धारणा है – ''छोटे को समझना चाहिये कि वह छोटा है और बड़े को समझना चाहिये कि वह बड़ा है।'' व्यक्ति ज्योंही इस भाव से अलग होता है, त्योंही परिवार या व्यवहार में विघटन प्रारम्भ हो जाता है। और तब आनन्द, सुख और विश्राम की कल्पना करना ही व्यर्थ हो जाता है।

भगवान का जन्म सबको सुख देता है। उनका विवाह भी दूसरों को आनन्द देता है। बनवास भी सभी ग्रामवासियों, कोल-किरातों तथा पशु-पक्षियों के आनन्द का कारण बनता है। जिनका प्रत्येक कार्य दूसरों को आनन्द तथा सुख देने के लिये होता है, उन्हीं को आनन्द के समुद्र, सबको सुख तथा विश्राम देने के इच्छुक पूर्णानन्द को श्रीराम कहते हैं।

भगवान श्रीराम की पूरी लीला के सारे प्रसंग आनन्द लेने और आनन्द देने की घटनाओं से भरे पड़े हैं। अयोध्या में जब उनका जन्म हुआ, तो छोटे-से बालक के रूप में वे रोने लगे। महल और दास-दासियों पर उनके रोने का क्या प्रभाव हुआ? गोस्वामीजी ने लिखा – रानियाँ उतावली हो दौड़कर चली आयीं, दासियाँ हर्षित होकर इधर-उधर दौड़ने लगीं –

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी।
संभ्रम चलि आयीं सब रानी।।
हरषित जहँ तहँ धाईं दासी ।
'आनँद' मगन सकल पुरबासी ।। १/१९२/१-२

इतना ही नहीं, माताओं, दासियों के आनन्द के बाद शिशु श्रीराम ने महाराज दशरथजी को भी आनन्द दिया – वे पुत्रजन्म का समाचार सुनकर मानो ब्रह्मानन्द में डूब गये। उन्होंने बाजेवालों को बुलाकर बाजे बजाने का आदेश दिया –

दसरथ पुत्रजन्म सुनि काना ।
मानहुँ ब्रह्मानंद समाना ।।
परमानंद पूरि मन राजा ।
कहा बोलाइ बजावहु बाजा।। १/१९२/३, ६

फिर जब श्रीराम थोड़े से बड़े हो गये, तो महर्षि विश्वामित्र जी पधारे और महाराज दशरथ से बोले – हे राजन्! असुरगण हमें सता रहे हैं, हमारे यज्ञों को नष्ट कर रहे हैं, और मैं आपकी दानवीरता को जाँचने आया हूँ –

असुर समूह सतावहिं मोही ।
मैं जाचन आयउँ नृप तोही ।। १/२०७/९

गुरु वशिष्ठ और विश्वामित्रजी के समझाने पर महाराज दशरथ ने ममतामुक्त होकर राम-लक्ष्मण को विश्वामित्रजी के हाथों में सौंप दिया। वहाँ भी श्रीराम महामुनि के साथ प्रसन्न होकर चले। उनके मन में लेशमात्र भी ग्लानि नहीं है –

पुरुषसिंह दोउ वीर
हरषि चले मुनि भय हरन ।
कृपासिंधु मतिधीर
अखिल बिस्व कारन करन ।। १/२०८/ख

राक्षस विश्वामित्रजी को यज्ञ नहीं करने देते थे। वे सारे पुरुषार्थ करके थक चुके थे। श्रीराम ने यज्ञ के बाधक राक्षसों की विभीषिका को नष्ट करके विश्वामित्रजी को विश्राम दिया।

आगे चलकर जनकपुर में परम विरागी महाराजश्री जनक ने जब दोनों राजकुमारों को देखा, तो स्वयं विश्वामित्रजी से अपना परिचय देते हुये कहा – महाराज, मेरा मन तो सहज विरागी है, पर न जाने क्यों आपके साथ आये इन राजकुमारों को देखकर मेरे मन में राग का उदय हो रहा है –

सहज बिरागरूप मनु मोरा ।
थकित होत जिमि चंद चकोरा ।।
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा ।
बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा ।। २/२१६/३, ५

जनकजी ने तो यहाँ तक कह दिया कि इनको देखकर मेरा मन न केवल आनन्दित हो रहा है, अपितु मेरा मन, जो ब्रह्मसुख में लीन है, वह उस सुख को छोड़कर इनमें लग जाने की इच्छा कर रहा है। जनकजी ने कहा – मुझे तो

लगता है कि आनन्द में जो आनन्द-बोध है, वह इनके द्वारा ही आया है। इनको बिना देखे आनन्द तथा ब्रह्मसुख तो मात्र अनुभव का विषय था, उसका नेत्र और वाणी के द्वारा वर्णन सम्भव नहीं था। परन्तु अब तो आनन्द का वह स्रोत ही मिल गया है, जिसको देखा भी जा सकता है और जिसके माध्यम से उस सुख का अनुभव कहा भी जा सकता है। अर्थात् जो इन्द्रियों से परे था, वह इन्द्रियों की धन्यता का माध्यम बन गया। विश्वामित्रजी ने उत्तर देते हुये कहा – महाराज ! आप ठीक कहते हैं, ये तो प्राणीमात्र को सुख देने वाले और सबके प्रिय हैं –

ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी ।
मनु मुसुकाहिं राम सुनु बानी ।।
सुन्दर स्याम गौर दोऊ भ्राता ।
आनंदहू के आनंद दाता ।।

श्रीराम का जन्म लेना, वन जाना, गुरुसेवा, रूप, स्वभाव, चलना और बोलना – सब कुछ पूर्ण और सुख, विश्राम तथा आनन्द देनेवाला है। वे तो पूर्ण, निरन्तर और अबाधित हैं। उनका देखना और स्पर्श कैसा है। जरा देखिये !

श्रीराम एक ओर जहाँ राक्षसों को धनुष-बाण से मारकर अपने में लीन कर लेते हैं। दूसरी ओर वे ही थोड़ी-सी त्रुटि के कारण अपने पतिव्रत-धर्म से च्युत हो जानेवाली अहल्या को पाषाणी के रूप में देखकर विश्वामित्रजी से उसके विषय में पूछते हैं और वे सारी बातें विस्तारपूर्वक बताते हैं –

पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी ।
सकल कथा मुनि कहा बिसेषी ।। १/२१०/१२

भगवान श्रीराम के स्वयं ही अपने दर्शन का फल बताया है – मेरे दर्शन का अनुपम फल यह है कि जीव अपने खोये हुए सहज स्वरूप को पुन: प्राप्त कर लेता है –

मम दरशन फल परम अनूपा ।
जीव पाव निज सहज सरूपा ।। ३/३५/८

यही अहल्या के साथ हुआ। वह अपने कर्म से बड़ी दुखी थी, किन्तु भगवान ने उसके कर्म को तप में बदल दिया। उसे प्रभु के दर्शन का फल प्राप्त हो गया और वह हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ी हो गयी –

परसत पद पावन सोक नसावन
प्रगट भई 'तपपुंज' सही ।
देखत रघुनायक जन 'सुखदायक'
सन्मुख होई कर जोरि कही ।। १/२११ छं.

श्रीराम सबको सुख, सबको विश्राम और सबको आनन्द देते गये हैं। उनकी दृष्टि परिणाम में एक, और विद्या में अनेक है। उस परिणाम का तात्पर्य है सुख, शान्ति, आनन्द, कृपा और विश्राम। दूसरों को यह सब देकर सन्तुष्टि प्राप्त करना, स्वयं कष्ट लेकर दूसरों को सुख देना और अपने को मिलनेवाले दु:ख को सुख की व्याख्या में बदल देना।

वनमार्ग में श्रीराम महर्षि बाल्मीकि से मिलते हैं। महर्षि ने कहा – राम ! तुम्हें बहुत कष्ट मिला। भगवान बोले – महाराज ! बिल्कुल नहीं। यही कार्य तो ऐसा है जिसमें सब तरह से अच्छाई हुई – **तात बचन** – पिताजी के वचन की रक्षा हुई, **पुनि मातु हित** – माता के हित की रक्षा हुई, **भाई भरत अस राउ** – जनता को भरत जैसा राजा मिला। बाल्मीकिजी बोले – सबको कुछ-न-कुछ मिला, पर तुम्हें तो इस वन में कष्ट उठाना पड़ रहा है। भगवान ने कहा – **मो कहँ दरस तुम्हार प्रभु** – मुझे आपका दर्शन हुआ और यह सब मेरे पुण्य के फल से हुआ – **सब मम पुण्य प्रभाउ** –

तात बचन पुनि मातु हित
भाइ भरत अस राउ ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु
सबु मम पुन्य प्रभाउ ।। २/१२५

भगवान तो गंगा के तट पर केवट की अटपटी वाणी सुनकर भी आनन्द ले रहे हैं और जानकीजी तथा लक्ष्मणजी की ओर देखते हुए खिलखिला कर हँस रहे हैं –

सुनि केवट के बैन
प्रेम लपेटे अटपटे ।
बिहँसे करुनाऐन
चितइ जानकी लखन तन ।। २/१००

अन्त में भगवान केवट के प्रेम के आगे झुक भी गये और हार भी गये। वे समझ गये कि प्रेम ही एक ऐसा है, जिसके आगे हार जाने में ही जीत है। तब भगवान बोले –

कृपासिंधु बोले मुसुकाई ।
सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई ।। २/१०१/१

भगवान ने प्रेमपूर्वक मुस्कुराकर जब केवट से कहा – भैया, ठीक है, तुम वही करो जिसमें तुम्हारी नाव बची रहे। केवट को इतना हर्ष हुआ, इतना आनन्द आया कि गोस्वामी जी बोल पड़े कि आनन्द ही नहीं 'अति आनन्द' हो गया –

अति आनंद उमगि अनुरागा ।
चरन सरोज पखारन लागा ।। २/१०१/७

भगवान आनन्द स्वरूप हैं। हर स्थिति में आनन्द लेना और हर स्थिति में सबको आनन्द देना – यही जीवन का सार है। बाकी सब निस्सार है। इसीलिये वशिष्ठजी ने कहा –

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी ।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी ।।
सो सुखधाम राम अस नामा ।
अखिल लोक दायक बिश्रामा ।। १/१९७/५-६

❑❑❑
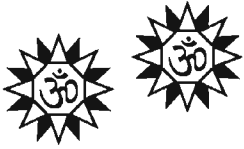
स्वामीजी के साथ दो-चार दिन

हरिपद मित्र

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

❖ (गतांक से आगे) ❖

एक दिन स्वामीजी के साथ 'अनन्त' (Infinity) पर चर्चा हुई। उनकी बातें बड़ी सुन्दर तथा सत्य थीं। वे बोले, "दो चीजें अनन्त नहीं हो सकतीं।" मेरे द्वारा समय तथा आकाश (time and space) के अनन्त कहे जाने पर वे बोले, "आकाश की अनन्तता तो समझ में आती है, पर समय की अनन्तता मैं नहीं समझ पाता। जो भी हो, कोई एक वस्तु अनन्त है, यह बात समझ में आती है, परन्तु यदि दो चीजें अनन्त हों, तो कौन-सी किसमें रहेगी? थोड़ा और अग्रसर होने पर देखोगे कि समय जो है, वही आकाश भी है; और भी अग्रसर होने पर समझोगे कि सभी पदार्थ अनन्त हैं और वे सभी अनन्त पदार्थ एक को छोड़ दो या अनेक नहीं हैं।"

इस प्रकार स्वामीजी के पदार्पण से २६ अक्तूबर तक मेरे निवास-स्थान पर आनन्द का स्रोत बहता रहा। २७ तारीख को वे बोले, "अब और नहीं ठहरूँगा; रामेश्वर जाने के विचार से इस ओर निकले बहुत दिन हो गये। यदि ऐसे ही चला, तो इस जन्म में रामेश्वर पहुँचना शायद न हो सकेगा।" मैं बहुत अनुरोध करके भी उन्हें रोक नहीं सका। २७ अक्तूबर की 'मेल' से उनका गोआ जाना निश्चित हुआ। उस थोड़े से समय के दौरान ही उन्होंने कितने ही लोगों को मोहित कर लिया था! टिकट खरीदकर उन्हें गाड़ी में बैठाने के बाद मैंने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और बोला, "स्वामीजी, जीवन में आज तक मैंने किसी को भी आन्तरिक भक्ति के साथ प्रणाम नहीं किया; आज आपको प्रणाम करके मैं कृतार्थ हुआ।"

* * *

मैं स्वामीजी से केवल तीन बार मिला। पहली बार उनके अमेरिका जाने के पहले; उस समय की बहुत-सी बातें कह चुका हूँ। उनकी द्वितीय पाश्चात्य यात्रा के कुछ पहले मैं उनसे दूसरी बार मिला। तीसरी तथा अन्तिम बार उनके देहत्याग के छह-सात माह पूर्व उनसे भेंट हुई। इन कई अवसरों पर मैंने उनसे जो कुछ सुना, उसका आद्योपान्त विवरण देना असम्भव है। जो कुछ स्मरण है, उन्हीं में से पाठकों के लिये उपयोगी बातों को लिपिबद्ध करने की चेष्टा करता हूँ।

इंग्लैंड से लौटने के बाद हिन्दुओं के जाति-विचार तथा किसी-किसी सम्प्रदाय के व्यवहार पर तीव्र कटाक्ष करते हुए स्वामीजी ने मद्रास में जो व्याख्यान दिये थे, उन्हें पढ़कर मुझे लगा कि स्वामीजी की भाषा थोड़ी ज्यादा ही कटु हो गयी है। मैंने उन्हें यह बात बतायी। सुनकर वे बोले – "जो कुछ कहा है, सब सत्य है; और जिन लोगों के विषय में वैसी भाषा का प्रयोग हुआ है, उनके कार्यों की तुलना में वह तिल मात्र भी कटु नहीं हुई है। सत्य को प्रकट करने में संकोच या उसे गोपनीय रखने का मुझे कोई कारण नहीं दिखता; तो भी उन कार्यों की मैंने जो वैसी समालोचना की है, इससे यह न सोच लेना कि मेरा उनके ऊपर क्रोध था या है, या फिर कोई ऐसा भी सोचते हैं कि उस समय कर्तव्य-बोध से मैंने जो कुछ किया, उसके लिये अब मुझे खेद है। इनमें से एक भी बात सत्य नहीं है। मैंने न तो क्रुद्ध होकर वैसा कार्य किया और न ही उसका कोई खेद है। अब भी यदि वैसा कोई अप्रिय कर्म करना कर्तव्य प्रतीत हो, तो निश्चय ही अब भी नि:संकोच भाव से वैसा ही करूँगा।"

ढोंगी साधुओं के विषय में उनका मत पहले ही बता चुका हूँ। एक अन्य दिन वह प्रसंग उठने पर वे बोले – "यह ठीक है कि अनेक बदमाश भी गिरफ्तारी के भय से या कोई भयंकर अपराध करने के बाद साधु के वेश में घूमते रहते हैं, परन्तु तुम लोगों का भी कुछ दोष है। तुम लोग सोचते हो कि हर संन्यासी को उसके ईश्वर के ही समान त्रिगुणातीत होना चाहिये। वह भरपेट खाये तो भी दोष है, बिस्तर पर सोये तो भी दोष है, यहाँ तक उसे जूते या छाते के उपयोग तक की छूट नहीं है। क्यों? वे लोग भी तो मनुष्य हैं। तुम लोगों के मतानुसार तो पूर्ण रूप से परमहंस हुए बिना किसी को गेरुआ वस्त्र पहनने का अधिकार नहीं है और ऐसा सोचना गलत है। एक बार मेरी एक संन्यासी से

भेंट हुई। उन्हें अच्छे पोशाक में बड़ी रुचि थी। तुम लोग उन्हें देखने पर घोर विलासी समझोगे। परन्तु वस्तुत: वे एक सच्चे संन्यासी थे।''

स्वामीजी कहते थे – ''स्थान, काल तथा पात्र के भेद से मानसिक भावों तथा अनुभवों में काफी तारतम्य मिलता है। धर्म के विषय में भी वैसा ही है। हर मनुष्य का ही किसी-न-किसी विषय में अधिक लगाव देखने में आता है। जगत् के सभी लोग अपने को अधिक बुद्धिमान मानते हैं। इसमें कोई हानि नहीं। परन्तु – 'केवल मैं ही समझता हूँ, दूसरे नहीं' – इसी सोच से सारी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। सभी चाहते हैं कि दूसरे लोग हर विषय उन्हीं के समान देखें और समझें। उसने जो कुछ सत्य समझा है या जाना है, उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ सत्य हो ही नहीं सकता। चाहे यह किसी सांसारिक विषय में हो या किसी धार्मिक विषय में, वैसा भाव मन में बिल्कुल भी नहीं आने देना चाहिये।

''जगत् के किसी भी विषय में एक ही नियम सब पर लागू नहीं हो सकता। स्थान, काल तथा पात्र के भेद से नीति तथा सौन्दर्य-बोध में भी भिन्नता दीख पड़ती है। तिब्बत में नारियों के बहु-पतित्व की प्रथा प्रचलित है। अपने हिमालय-भ्रमण के दौरान मेरी एक ऐसे ही तिब्बती परिवार के साथ भेंट हुई थी। उस परिवार में छह पुरुष थे और उनकी केवल एक ही पत्नी थी। परिचय क्रमश: प्रगाढ़ होने पर एक दिन जब मैंने उन लोगों के समक्ष इस कुप्रथा का उल्लेख किया, तो वे लोग नाराज होकर बोले, 'तुम साधु-संन्यासी होकर भी लोगों को स्वार्थपरता सिखाना चाहते हो? यह केवल मेरी ही उपभोग्य है, अन्यों की नहीं – ऐसा भाव क्या अनुचित नहीं है?' मैं तो सुनकर दंग रह गया।

''चीन में नाक तथा पाँवों की लघुता के आधार पर ही सौन्दर्य का विचार होता है, यह बात सभी जानते हैं। भोजन आदि के विषय में भी ऐसा ही है। अंग्रेज हमारे समान सुगन्धित चावल पसन्द नहीं करते। एक बार कहीं के जज साहब का तबादला हो जाने पर वहाँ के कुछ वकील-मुख्तार लोगों ने उनके सम्मान में उत्कृष्ट अनाज भेजा था। उसमें कई किलो सुगन्धित चावल भी थे। जज साहब ने उस सुवासित चावल को खाते समय उसे सड़ा हुआ समझा और वकीलों से भेंट होने पर बोले, 'तुम लोगों ने जो मुझे सड़ा हुआ चावल भेजा, यह ठीक नहीं हुआ।'

''एक बार मैं ट्रेन में यात्रा कर रहा था। उसी डिब्बे में चार-पाँच अंग्रेज भी थे। बातचीत के दौरान तम्बाकू के विषय में मैंने कहा, 'सुगन्धित गुड़ाकू तम्बाकू को पानी से भरे हुक्के में उपयोग करना ही तम्बाकू-सेवन का सर्वश्रेष्ठ उपाय है।' मेरे पास बड़ा अच्छा तम्बाकू था, मैंने वह उन्हें देखने को दिया। उसे सूँघते ही वे बोले, 'यह तो भयंकर दुर्गन्ध है! इसको आप सुगन्ध कहते हैं!' इस प्रकार गन्ध, स्वाद, सौन्दर्य आदि सभी विषयों में समाज, देश, काल आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न मत होते हैं।''

स्वामीजी की उपरोक्त बातों को हृदयंगम करने में मुझे जरा भी असुविधा नहीं हुई। मेरे मन में आया कि पहले शिकार में मेरी कितनी रुचि थी! कोई पशु या पक्षी देखते ही, उसे मारने के लिये प्राण छटपटाया करता था। न मार पाने पर बड़े कष्ट का अनुभव होता था। परन्तु अब उस तरह का प्राणिवध बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता। अत: कोई भी चीज अच्छा या बुरा लगना, केवल अभ्यासवश ही होता है।

हर व्यक्ति में अपने मत का समर्थन करने की एक विशेष जिद देखने में आती है। धर्ममत के विषय में भी उसकी विशेष अभिव्यक्ति होती है। इस सम्बन्ध में स्वामीजी एक कहानी सुनाया करते थे, जो इस प्रकार है –

एक बार एक छोटे-से राज्य को जीतने के लिये एक अन्य राजा दलबल के साथ आ पहुँचा। शत्रु के हाथ से कैसे बचा जाय, इस पर विचार करने के लिये उस राजा ने एक महासभा बुलाई। सभा में इंजीनियर, बढ़ई, चर्मकार, लोहार, वकील, पुरोहित आदि सभी उपस्थित थे। इंजीनियर बोला, ''नगर के चारों ओर एक चौड़ी खाई खुदवा दीजिये।'' बढ़ई बोला, ''लकड़ी की दीवार खड़ी कर दी जाय।'' चर्मकार ने कहा, ''चमड़े जैसी मजबूत दूसरी कोई भी चीज नहीं है, अत: चमड़े का घेरा बना दिया जाय।'' लोहार बोला, ''इन सबसे काम नहीं होगा; लोहे की दीवार ही अच्छी है, गोले-बारूद से भी उसे छेदा नहीं जा सकेगा।'' वकील बोला, ''ऐसा कुछ भी करने की जरूरत नहीं है; शत्रु को तर्क के द्वारा समझा दिया जाय कि उसे हमारा राज्य लेने का कोई अधिकार नहीं है।'' पुरोहित ने कहा, ''तुम सभी पागलों-जैसी बातें करते हो। होम-हवन करो, ग्रह-शान्ति करो, तुलसी-पूजा करो; शत्रुगण बाल भी बाँका न कर सकेंगे।''

इस प्रकार राज्य को बचाने के कोई उपाय निश्चित करने के स्थान पर वे सभी अपना-अपना मत लेकर घोर तर्क-वितर्क में लग गये। ऐसा करना ही मनुष्य का स्वभाव है।

इस कहानी को सुनकर, मनुष्य के मन के एकांगी झुकाव के विषय में एक अन्य घटना याद आ गयी। मैं बोला – ''स्वामीजी, मुझे बचपन में पागलों से बात करना बड़ा अच्छा लगता था। एक दिन एक पागल को देखा, काफी बुद्धिमान था, थोड़ा-बहुत अंग्रेजी भी जानता था। उसे केवल पीने के पानी की ही जरूरत थी। उसके पास एक टूटा हुआ लोटा था। चाहे नहर हो या हौज, पानी का कोई नया स्थान देखते ही, वह वहाँ का पानी पीने लगता। इतना जल पान करने का कारण पूछने पर उसने मुझसे कहा – 'Nothing like water, sir.' (महाशय, पानी जैसा कुछ भी नहीं है।) मैंने

उसे एक अच्छा लोटा देने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु वह किसी भी हालत में उसे लेने को राजी नहीं हुआ। कारण पूछने पर वह बोला, 'लोटा टूटा है, इसीलिये इतने दिन बचा है। अच्छा होने से कोई चुरा ले गया होता।' ''

घटना सुनने के बाद स्वामीजी बोले – ''वह तो बड़ा मजेदार पागल था ! ऐसे लोगों को monomaniac (झक्की) कहते हैं। हम सभी में उसी तरह का एक-एक झोंक रहता है। हम लोगों में उसे दबाये रहने की क्षमता है, पागल में वह नहीं होता। पागल में और हम लोगों में बस इतना ही भेद है। रोग-शोक-अहंकार के कारण, या काम-क्रोध-ईर्ष्या के कारण, अथवा किसी अन्याय या अत्याचार के फलस्वरूप व्यक्ति के दुर्बल होकर अपना संयम खो बैठने से ही मुश्किल हो जाती है। वह अपने मन के आवेग को दबाकर नहीं रख पाता। और तब हम कहते हैं कि यह व्यक्ति पगला गया है। बात इतनी ही है।''

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि स्वामीजी का देशप्रेम अति प्रबल था। एक दिन इसी विषय में चर्चा उठने पर उनसे कहा गया कि गृहस्थ लोगों के लिये अपने-अपने देश के प्रति प्रेम रखना चिर कर्तव्य है, परन्तु संन्यासी के लिये अपने देश की माया त्याग करना और सभी देशों के प्रति समदृष्टि रखते हुए सभी देशों की भलाई सोचना ही उचित होगा। इस पर स्वामीजी ने जो ज्वलन्त बातें कहीं, उन्हें मैं कभी भूल नहीं सकूँगा। उन्होंने कहा, ''जो व्यक्ति अपनी माँ को खाना नहीं दे सकता, वह क्या दूसरों की माँ का पालन करेगा !''

स्वामीजी मानते थे कि हमारे प्रचलित धर्म, आचार-व्यवहार तथा सामाजिक प्रथाओं में अनेक दोष हैं। वे कहते, ''इन सबमें सुधार लाने का प्रयास हमारा हर प्रकार से कर्तव्य है, पर समाचार-पत्रों के माध्यम से इन्हें अंग्रेजों के समक्ष घोषित करना जरूरी है क्या? जो अपने घर की गन्दगी को बाहर के लोगों को दिखाता है, उसके जैसा गधा दूसरा कौन होगा? Dirty linen must not be exposed in the street. (गन्दे वस्त्रों को प्रदर्शन हेतु सड़क पर नहीं रखा जाता)।''

एक दिन ईसाई मिशनरियों का प्रसंग उठा। बातचीत के दौरान मैंने कहा कि उन लोगों ने देश का बड़ा उपकार किया है और कर रहे हैं। सुनकर वे बोले, ''लेकिन अपकार भी तो कम नहीं किया है ! देश भर के लोगों की श्रद्धा का पूरी तौर से नाश कर देने का उन लोगों ने विलक्षण उपाय किया है। श्रद्धानाश के साथ-साथ मनुष्यत्व भी चला जाता है। यह बात क्या कोई समझता है? हमारे देवी-देवताओं तथा हमारे धर्म की निन्दा किये बिना क्या उनके अपने धर्म की श्रेष्ठता नहीं दिखायी जा सकती? एक बात और है – जो व्यक्ति जिस धर्ममत का प्रचार करना चाहता है, उसमें पूर्ण विश्वास तथा तदनुसार कर्म भी होना चाहिये। अधिकांश मिशनरी मुख से कुछ कहते हैं और करते कुछ अलग ही हैं। मुझे कपट से बड़ी चीढ़ है।''

एक दिन उन्होंने अति सुन्दर ढंग से धर्म तथा योग के विषय में बहुत-सी बातें कही थीं। जितना याद है, उसका सारांश यहाँ यथासम्भव लिखता हूँ –

''सभी प्राणी निरन्तर सुखी होने की चेष्टा में लगे हुए हैं। परन्तु अति अल्प लोग ही सुखी हो पाते हैं। सभी लोग निरन्तर काम-काज में भी लगे हुए हैं, परन्तु उसका अभीष्ट फल प्राप्त होता प्राय: नहीं दिखता। इस प्रकार विपरीत फल होने का क्या कारण है – इस बात को भी कोई समझने की चेष्टा नहीं करता। इसी कारण मनुष्य दु:ख पाता रहता है। धर्म के विषय में चाहे जैसा भी विश्वास हो, यदि कोई उस विश्वास के बल पर अपने को वास्तविक सुखी अनुभव करता है, तो उसके उस मत को परिवर्तन करने का प्रयास किसी के लिये भी उचित नहीं है। और प्रयास करने पर भी उसका कोई सुफल नहीं होता। वैसे मुख से कोई चाहे जो भी क्यों न कहे, जब देखोगे कि उसका केवल धर्म-विषयक बातें सुनने में ही आग्रह है, परन्तु उसे आचरण में लाने का कोई प्रयास नहीं है, तो समझ लेना कि उसे किसी भी विषय में दृढ़ विश्वास नहीं हुआ है।

''धर्म का मूल उद्देश्य मनुष्य को सुखी करना है। परन्तु अगले जन्म में सुखी होने के लिये इस जन्म में दु:ख भोगना भी किसी बुद्धिमान का काम नहीं है। इसी जन्म में, इसी क्षण से ही सुखी होना होगा। जिस धर्म के द्वारा यह सम्पन्न होगा, वही मनुष्य के लिये सर्वाधिक उपयुक्त धर्म है। इन्द्रिय -भोग-जनित सुख क्षणकालिक है और उसके साथ अनिवार्य रूप से आनेवाला दु:ख भी अपरिहार्य है। बच्चे, अज्ञानी तथा पशु-स्वभाव के लोग ही इस क्षणिक दु:ख-मिश्रित सुख को वास्तविक सुख मानते हैं। यदि कोई उस सुख को भी जीवन का एकमात्र उद्देश्य मानकर सदा-सर्वदा पूरी तौर से निश्चिन्त तथा सुखी रह सके, तो वह भी बुरा नहीं। परन्तु आज तक कोई भी ऐसा व्यक्ति देखने में नहीं आया। सामान्यत: यही देखने में आता है कि जो लोग इन्द्रियों की सन्तुष्टि को ही सुख मानते हैं, वे लोग अपने से अधिक धनवान विलासी लोगों को अधिक सुखी मानकर उनसे द्वेष करते हैं और उच्चकोटि के अति व्ययसाध्य इन्द्रिय-भोगों को देखकर उसे पाने को लालायित होकर दुखी रहते हैं। सम्राट् सिकन्दर, सारी पृथ्वी को जीतने के बाद, यह सोचकर दुखी हुए थे कि अब जीतने के लिये कोई देश ही नहीं बचा। इसीलिये बुद्धिमान मनीषी काफी देख-सुनकर और विचार करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि किसी भी एक धर्म में यदि पूर्ण विश्वास हो, तभी मनुष्य निश्चिन्त तथा वास्तविक रूप से सुखी हो सकता है।

विद्या-बुद्धि आदि सभी विषयों में हर व्यक्ति का स्वभाव भिन्न-भिन्न दिखाई देता है। इसीलिये धर्म को उनके लिये उपयोगी होने के लिये उसमें भी भिन्नता आवश्यक है, अन्यथा वह उन्हें किसी भी प्रकार का सन्तोष नहीं दे सकेगा, उसका पालन करके वे लोग किसी भी प्रकार वास्तविक सुख नहीं पा सकेंगे। व्यक्ति को स्वयं ही सोच-विचार तथा देख-भाल करके अपने स्वभाव के अनुकूल धर्ममत को चुन लेना होगा। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं। शास्त्र-पाठ, गुरु-उपदेश, साधु-दर्शन, महापुरुष-संग आदि इस विषय में सहायक मात्र हो सकते हैं।

''कर्म के विषय में भी यह जानना आवश्यक है कि कोई भी किसी-न-किसी प्रकार का कर्म किये बिना रह नहीं सकता। जगत् में कोई भी ऐसा कर्म नहीं है, जो केवल अच्छा या केवल बुरा हो। अच्छा कर्म करना हो, तो उसके साथ थोड़ा-बहुत बुरा होता ही है। इसीलिये जैसे कर्म के द्वारा सुख आता है, वैसे ही उसके साथ कुछ-न-कुछ दु:ख तथा अभावबोध भी आयेगा ही, यह अवश्यम्भावी है। यदि उस दु:ख को ग्रहण न करने की इच्छा हो, तो फिर विषय-भोग-जनित प्रतीयमान सुख-प्राप्ति की आशा को भी छोड़ देना होगा। अर्थात् स्वार्थ-सुख की खोज को छोड़कर सभी कार्य कर्तव्य-बोध से सम्पन्न करने होंगे। यही निष्काम कर्म है। गीता में भगवान ने अर्जुन को इसी का उपदेश करते हुए कहा था, 'कर्म करो, परन्तु फल मुझे सौंप दो; अर्थात् मेरे लिये ही कर्म करो।' '' ...

गीता, बाइबिल, कुरान, पुराण आदि अति प्राचीन ग्रन्थों में लिपिबद्ध घटनाओं की यथार्थ ऐतिहासिकता पर मुझे जरा भी विश्वास न था। एक दिन मैंने स्वामीजी से पूछा, ''कुरुक्षेत्र -युद्ध के किंचित् पूर्व अर्जुन के प्रति भगवान श्रीकृष्ण का धर्मोपदेश, जो भगवद्-गीता में लिपिबद्ध हुआ है, वह सच्ची ऐतिहासिक घटना है या नहीं?''

उन्होंने बड़े सुन्दर ढंग से उत्तर देते हुए कहा, ''गीता एक अति प्राचीन ग्रन्थ है। प्राचीन काल में इतिहास लिखने या पुस्तक आदि छपवाने के लिये आजकल के समान धूम नहीं मची थी, इसलिये तुम्हारे जैसे लोगों के समक्ष गीता की ऐतिहासिकता प्रमाणित करना कठिन है। परन्तु गीता में कही गयी घटनाएँ ठीक वैसी ही घटित हुई थीं या नहीं, इस विषय में तुम लोगों के सिर खपाने का भी मुझे कोई कारण नहीं दिखता। क्योंकि यदि कोई अकाट्य प्रमाणों के द्वारा तुम लोगों को समझा सके कि भगवान ने सारथी के रूप में अर्जुन को गीता सुनाई थी, तो भी क्या तुम लोग गीता में लिखित सारी बातों पर विश्वास कर लोगे? साक्षात् भगवान भी जब तुम लोगों के समक्ष मानव-रूप धारण करके आते हैं, तब भी जब तुम लोग उनकी परीक्षा करने को दौड़ते हो और उनका ईश्वरत्व प्रमाणित करने के लिये कहते हो, तो फिर गीता ऐतिहासिक है या नहीं – इस निरर्थक समस्या को लेकर क्यों परेशान हो रहे हो? यदि कर सको, तो गीता के उपदेशों को यथासम्भव अपने जीवन में अपना करके कृतार्थ हो जाओ। श्रीरामकृष्ण देव कहते थे, 'आम खाओ, पेड़ के पत्ते गिनने से क्या मिलेगा?' मुझे लगता है कि धर्म-शास्त्रों में लिपिबद्ध घटनाओं के ऊपर विश्वास या अविश्वास करना – व्यक्ति के अपने समीकरण पर निर्भर करता है। अर्थात् व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में पड़कर उससे उद्धार पाने का मार्ग ढूँढ़ते हुए और धर्मशास्त्र में लिपिबद्ध किसी घटना के साथ अपनी अवस्था का ठीक-ठीक सादृश्य देखकर उस घटना को निश्चित रूप से ऐतिहासिक समझकर विश्वास कर लेता है। और साथ ही उक्त परिस्थिति में धर्म-शास्त्र में कथित उपाय को भी आग्रह के साथ स्वीकार कर लेता है।''

प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपने अभीष्ट कार्य के सम्पादन हेतु अपनी शारीरिक तथा मानसिक शक्ति का संरक्षण करना कितना आवश्यक है, इसी बात को एक दिन स्वामीजी ने बड़े सुन्दर ढंग से समझाते हुए हम लोगों से कहा था, ''जो व्यक्ति अनधिकार चर्चा या निरर्थक कार्यों में शक्ति का नाश करता है, उसे अपने अभीष्ट कार्य के सम्पादन हेतु पर्याप्त शक्ति कहाँ से मिलेगी? The sum total of the energy that can be exhibited by a person is a fixed quantity. अर्थात् प्रत्येक जीवात्मा के भीतर विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त करने की शक्ति सीमित मात्रा में है, अत: उस शक्ति का अधिकांश भाग एक तरह से व्यक्त होने पर, उतना भाग अन्य तरह से व्यक्त नहीं हो सकता। धर्म के गम्भीर सत्यों को जीवन में प्रत्यक्ष करने के लिये काफी शक्ति की आवश्यकता होती है; इसीलिये सभी देशों के धर्मग्रन्थों में धर्मपथ के पथिकों को उपदेश दिया गया है कि वे विषय-भोग आदि द्वारा शक्तिक्षय न करके ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा शक्ति का संरक्षण करें।''

बंगाल के गाँवों तथा वहाँ के निवासियों में प्रचलित कुछ आचारों को स्वामीजी पसन्द नहीं करते थे। गाँव के एक ही तालाब में स्नान, शौच आदि करना और उसी का पानी पीना – इस प्रथा पर वे बड़े नाराज थे। वे कहते, ''जिनका मस्तिष्क मल-मूत्र से भरा है, उन लोगों से और क्या उम्मीद की जा सकती है! और ग्रामीण लोग जो बेकार की चर्चा करते हैं, वह तो बड़ी खराब चीज है। शहर के लोग ऐसी चर्चा न करते हों, ऐसी बात नहीं; परन्तु उन्हें समय कम मिलता है, क्योंकि शहर का खर्च अधिक है, इसलिये उन्हें काम भी बहुत करना पड़ता है। इतना परिश्रम करने के बाद, उन्हें खाली बैठकर हुक्का पीने और परनिन्दा करने का समय नहीं मिलता। अन्यथा ये शहरी भूत तो इस विषय में ग्रामीण भूतों के भी गर्दन पर चढ़कर नाचते।'' ❖ **(क्रमश:)** ❖
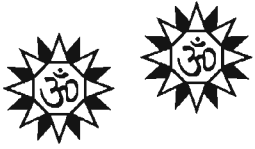
कण-कण में श्रीकृष्ण बिहारी
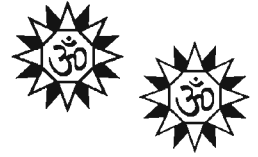
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

श्रीमद्भागवत में गोपिकायें विलाप करती हुई कहती हैं –

हा नाथ हा रमण प्रेष्ठ क्वासि महाभुज !
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ।।
१०/३०/४०

– 'हा नाथ! हा रमण! हा प्रेष्ठ! हा महाभुज! तुम कहाँ हो! कहाँ हो!! मेरे सखा! मैं तुम्हारी दीन-हीन दासी हूँ। शीघ्र ही मुझे अपने सान्निध्य का अनुभव कराओ। मुझे दर्शन दो।'

इस प्रकार की विरह-वेदना से वृन्दावन परिपूर्ण है। वृन्दावन की गलियों में श्रीकृष्ण का विरहोद्दीपन है। वहाँ के वन, लताओं में श्रीकृष्ण का स्पन्दन है। वहाँ की रज में श्रीकृष्ण-विहार के सुख का रोमांच होता है। यदि वृन्दावन विहारी की कृपा हो, तो वहाँ के कण-कण में श्रीकृष्ण की अनुभूति होगी। क्योंकि जिस प्रभु के मुख में ब्रह्माण्ड का दर्शन हुआ था, उनके मुख में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड निहित था, उनकी सर्वव्यापकता अणु से ब्रह्माण्ड पर्यन्त सर्वविदित है। भागवताचार्य श्री व्यासजी श्रीमद्भागवत में वृन्दावन का वर्णन करते हुये लिखते हैं –

सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितं ।
हंसकारण्यवाकीर्णैः पद्मषण्डैश्च मण्डितम् ।।

– अर्थात् 'सर्वत्र चतुर्दिक पुष्पों से युक्त अत्यन्त सुन्दर वृक्ष हैं। भ्रमर पुष्पों पर गुंजन कर रहे हैं। हंस विहार कर रहे हैं एवं कमल कुसुमों से सुशोभित हैं।' मयूर नृत्य कर रहे हैं। कोयल कूक रही है। इस प्रकार का प्राकृतिक वर्णन 'ब्रज' का मिलता है। इस प्रकार के प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है वृन्दावन।

ये वृक्ष कौन हैं? इसका भी बड़ा मार्मिक उल्लेख है – बड़े-बड़े ऋषि-महात्माओं ने यह संकल्प लिया कि वे लोग वृन्दावन की झाड़ी, लता, वृक्ष और औषधि बनेंगे –

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधिनाम् ।
प्रायो बताम्ब विहगा मुनयोवनेऽस्मिन्,
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतं ।
आरुह्य मे द्रुममुजान् रुचिरप्रवालान्,
शृण्वन्त्य मीलितदृशो विगतान्यवाचः ।।

– ऋषियों ने यह संकल्प लिया कि वे वृन्दावन में श्रीकृष्ण के चरण-रेणु होंगे, वृक्ष बनेंगे, लता-औषधि और कुंज बनेंगे। पक्षी बन कर कलरव करेंगे। इस प्रकार उस पवित्र वृन्दावन धाम में जन्म लेकर भगवान की लीला का अस्वादन करेंगे। भगवान की सेवा करेंगे। भगवान की लीला में सहयोगी बनेंगे। इस प्रकार की अलौकिक महिमा से वृन्दावन धाम महिमामण्डित है।

भक्त के हृदय में आज भी वही वृन्दावन है। वही यमुनाजी की मधुर लहरें हृदय में तंरगायित होती रहती हैं। गोप, ग्वालों, और गायों को देखकर श्रीकृष्ण की ही उद्दीपना होती है। निधुवन को देखकर ऐसा लगता है, मानो राधा-रमण बिहारी श्रीकृष्ण किसी लता-कुंज से निकलकर अपना दिव्य दर्शन देकर हमारे जीवन को धन्य करने वाले हैं। यमुना तट को देखकर ऐसा लगता है कि अब कन्हैया की वंशी बजने ही वाली है। वेणु-निनाद होने ही वाला है। उनकी मुरली की मधुर ध्वनि कर्ण-कुहरों में प्रवेश करने ही वाली है। ब्रज के छोटे-छोटे बालक-बलिकाओं को देखकर कृष्ण के बाल सखा एवं राधा की सखियों का आभास होता है। सायंकाल सूर्यास्त की बेला में जब यमुना तट की ओर से कुछ गायों के साथ ब्रज-बालक आते हुये दिखते हैं, तो 'साँझ परे घर आयो' का संकेत मिलता है। माँ यशोदा की व्यग्रता का उद्दीपन होता है – शाम हो गयी ! सूर्यास्त हो गया ! कन्हैया कहाँ रह गया!

लेकिन उसके बाद तब निराशा होती है, जब केशव की मुरली का स्वर सुनाई नहीं पड़ता। उनके मुरली के स्वर से बेसुध गोपिकायें उन्हें खोजती हुई बावरी नहीं दिखाई पड़तीं। जब गोप-गोपी की 'कान्हा कान्हा' की पुकार सुनाई नहीं पड़ती। तब भक्त प्रभु को याद करता है। उनसे प्रेम भरा उलाहना देता है। उन्हें अपनी व्यथा बताता है। वह कहता है, हे प्रभु ! तेरे बिना मुझे कौन मुरली की टेर सुनाकर मेरी सब व्यथा का हरण करेगा। एक मात्र तुम्ही मेरे प्राणप्रियतम हो ! और तब प्रवाहित होने लगती है संत-कवि की काव्य-सरिता की मधुर लहरी –

प्राण पखेरू तेरे प्यार में,
निश-दिन आस लगाये ।
कब-कहाँ-किस काल कुंज में,
तेरी चरण-धूलि मिल जाये ।।१ ।।
कर्म-डोर, कारण-विधान,
कैसे मेरे मन भाये ।
मैं चंचल चातक चितवत प्रभु,
कब चित्-चकोर मिल जाये ।।२ ।।

तुम बिनु यमुना भयावह लगती,
ब्रज-गोप-ग्वाल नहीं आये ।
नयन निरखत तव दरसन को,
कब तेरे संग रास-रचाये ।।३ ।।
कदम्ब-डार डरावनि तुम बिनु,
मुरली तुमको खोज न पाये,
हे मधुसूदन मन नहिं मानत,
कौन मुरली की टेर सुनाये ।।४ ।।
प्रभु पथ पेखि प्राण तड़पते,
प्रण कर भी प्राण नहिं जाये ।
जब तक प्राणपति गिरधारी,
तू आकर के गले न लगाये ।।५।।

देश-काल के अनुसार ब्रज का बाहरी स्वरूप पूर्वोक्त वर्णित श्लोकानुसार हो सकता है कि वर्तमान में न भी हो, किन्तु भक्त के हृदय में तो वही वृन्दावन है, वही ब्रजधाम है, जो भागवत में व्यासजी द्वारा वर्णित है ।

जब तक भक्त को अपने इष्ट का, अपने परमात्मा का दर्शन नहीं होता, तब तक वह साधना के रूप में उनका नाम-स्मरण और उनकी लीला का चिन्तन करता है और जब उसके प्रभु का साक्षात्कार हो जाता है, तब भी वह उनकी लीलाओं को लेकर ही रहता है। उनके चिन्तन-मनन-निदिध्यासन में ही रहता है। येन-केन-प्रकारेण वह अपने परमात्मा से संयुक्त रहकर उनकी सन्निधि का दिव्यानुभूति करता है। इसी में उसके जीवन की सार्थकता भी है। इसीलिये गोपियाँ सदा श्रीकृष्ण की अनुपस्थिति में, उनके मथुरा चले जाने पर भी, सदा उनके गुण का, उनकी लीला का, उनकी प्रेम-वृत्ति का चिन्तन करती हैं और चिन्तन करते-करते कृष्णमय हो जाती हैं –

तनमनस्का तदालापाः तद्विचेष्टाः तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यः नात्मरागाणि सस्मरुः ।।
१०/३०/४३

कर्माणि शुभानि बलकृष्ण्योः गायन्ति ।

– व्यास जी कहते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण के शुभ कार्यों का, उनके साथ की गयी रास-लीला का, उनके गुण-लीलाओं का गोपियाँ चिन्तन करती हैं, परस्पर उन्हीं लीलाओं का वार्तालाप करती हैं। इस प्रकार के लीला-चिन्तन द्वारा वे अपने प्रियतम श्रीकृष्ण से तादात्म्य हो जाती हैं। उनका रोम-रोम कृष्णमय हो जाता है। वे पूर्णत: कृष्णागतप्राणा हो जाती हैं। राधिका जी की अवस्था का वर्णन करते हुये कवि कहते हैं –

माधव-माधव-माधव रटइत राधा भेल मधाई ।

– 'माधव-माधव' 'श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण' का स्मरण करते-करते राधा स्वयं श्रीकृष्ण हो जाती हैं।' तब भक्त को बाहर की मुरली भले ही न सुनाई दे, लेकिन उसके अन्तर में, उसके हृदय में श्रीकृष्ण की मुरली की ध्वनि सुनाई देने लगती है । वह उस ध्वनि के श्रवण में तल्लीन हो जाता है। उसके बाद वह अपने प्रियतम से उलाहना देना छोड़ देता है। उसकी सारी व्यथा दूर हो जाती है। क्योंकि अब श्रीकृष्ण का वेणु-निनाद उसके अन्तस्तल में हो रहा है। उसके हृदय में हो रहे वेणु-निनाद से उसकी हृदय-वीणा झंकृत हो उठती है और वह उस वेणु के सुर में अपनी हृदय-वीणा के सुर को मिलाने में तल्लीन हो जाता है। उसका स्वर बदल जाता है। वह उपालम्भ और विकलता के बदले आत्मसन्तुष्ट होकर प्रभु से कहता है –

हे हृद्वल्लभ ! मेरे हिय में,
तेरी वीणा सदैव बजती ।
सरस सुकोमल सूक्ष्म तार से,
अगनित राग निकलती ।।१ ।।
कर्कश-कठोर-कालावेष्टित,
क्षण-क्षण प्रतिपल परिवर्तित ।
ऐसे मेरे हृद्गह्वर में भी,
वीणा झनक-झनकती ।।२ ।।
प्रात-पीयूष में हे परमेश्वर,
जब भैरव रागिनी बजती ।
भासित हो भानु चिद्घन में,
ज्ञान की रश्मि मचलती ।।३ ।।
विकसा कमल देख दिनेश को,
मन-मकरंद लुभाया ।
अज्ञान निशा अंतर्हित हुई,
जब तेरा दर्शन पाया ।।४ ।।

इस प्रकार भक्त अपनी हृदय-वीणा का स्वर श्रीकृष्ण की मुरली से मिलाकर आनन्द विभोर हो जाता है। कभी वह विभोर होकर नृत्य करने लगता है, तो कभी श्रीकृष्ण-लीला और श्रीकृष्ण-कथा-सत्संग की यमुना में अवगाहन करने लगता है और अपने जीवन को श्रीकृष्णमय बना लेता है।

यदि भक्त इस प्रकार से श्रीकृष्ण के चिन्तन-मनन का अभिलाषी है, श्रीकृष्ण के प्रेम का अभिलाषी है, तो उसे वृन्दावन के कण-कण में, वहाँ के वन, लताओं और कुंजों में अपने प्यारे बाँके बिहारी, राधा-रसिक बिहारी श्रीकृष्ण की खोज करनी होगी । क्योंकि वृन्दावनधाम श्रीकृष्ण प्रेम-उद्दीपक है, जहाँ गोपियों का प्रेमोत्प्रेरक विहार, वहाँ के रज-कण में विभावना का उद्रेक करता है, हृदय में स्पंदन करता है।

श्री बाँके बिहारी जी का आविर्भाव श्रीकृष्ण विरह के दावानल से प्रशमित होने की परिपूर्ति है, धैर्य बधाने का एक क्रम है। भक्त के अंधकारमय जीवन में दिव्य प्रकाश है। आज भी श्री बाँके बिहारी जी अपनी बंकिम कमनीय छवि से

भक्तों को प्रशान्ति, आनन्द और निश्छल प्रेम उन्मुक्त वितरित कर रहे हैं।

भगवान ने जहाँ क्रीड़ा की, वह रेती-रमण धाम आज भी अपने आध्यात्मिक स्वरूप को सुरक्षित रखकर उस महान् विभूति के चरण-रज की महिमा का गान कर रहा है। जहाँ ठाकुर रमण बिहारी जी सदा विद्यमान हैं। भक्तगण बड़ी श्रद्धा से भाव-विभोर होकर भजन गाते हैं –

ठाकुर हमरे रमण बिहरी,
हम हैं रमण बिहारी के।
साधु सेवा धर्म हमारा,
काम न दुनियादारी से।
कोई भला कहे चाहे बुरा कहे,
हम हो गये रमण बिहारी के।।

कालिन्दीकुन्द कदम्ब की डारन
मोहनि मूरति देखि तिहारी,
धेनु चरावत, वेणु बजावत
रास रचावत रास बिहारी।
राधा में श्याम लखैं कबहूँ
कबहूँ घनश्याम में राधा निहारी,
पावन धाम रमण रेती में
रमण करें नित रमण बिहारी।।
राधा विराजत श्याम के संग में,
जोड़ी मनोहर है अति प्यारी
झाईं परी तन की ...
ब्रज रज रेणु में होड़ लगी..
पावन धाम रमण रेती में
रमण करें नित रमण बिहारी।।

श्रीमद्‌भागवत में कर्दम मुनि के आश्रम का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है –

कदम्ब-चम्पकाशोक-करञ्ज-बकुलासनैः।
कुन्द-मन्दार-कुटजैश्चूतपोतैरलंकृतम्।।
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैः कुररैर्जलकुक्कुटैः।
सारसैश्चक्रवाकश्च चकोरैर्वल्गु कूजितम्।।

– बिन्दु सरोवर कदम्ब, चम्पक, अशोक, करंज, बकुल, आसन, कुण्ड, मन्दार, कुटज तथा नव आम्र के पुष्पित वृक्षों से आश्रम-परिसर सुशोभित था। वायु कारण्डव, प्लव, हंस, कुररी, जल पक्षी, सारस, चक्रवाक तथा चकोर के कलरव से गुँज रही थी।

संस्कृत साहित्य में भी एक आश्रम का बड़ा भव्य वर्णन है, जिसकी कल्पना मात्र से मन मुग्ध हो जाता है –

विश्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागता प्रत्यया,
बृक्षापुष्पफलैः समृद्धविटपा सर्वेदयारक्षिता।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो,
निःसंदिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि वह्वाश्रयः।।

– आश्रम का वातावरण कैसा है? – 'वहाँ निर्भय हरिणों का विचरण है, वृक्ष, पुष्प-फलों से सम्पन्न हैं, गायों से पूर्ण और हवन की धूमाग्नि से ऐसा प्रतीत होता है कि निश्चय ही यह तपोवन है।'

इसी प्रकार यमुनाजी के पावन तट पर स्थित विभिन्न वृक्षों से सुशोभित, बहुत-सी गायों से सुशोभित, अनेकों पशु-पक्षियों का अभयारण्य एवं त्यागी ब्रह्मपारायण, ईश्वरगतप्राण सन्त-मुनियों से विभूषित श्री उदासीन कार्ष्णि आश्रम है। सन्त कैसे होते हैं? सन्तों का स्वभाव श्रीमद्‌भागवत में इस प्रकार वर्णित है –

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः।।
मदाश्रयाः कथामृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्‌गतचेतसः।।
ते एते साधवः साध्वि, सर्वसंगविवर्जिताः।
३/२५/२१,२३,२४

– 'जो सहिष्णु, दयालु, सभी प्राणियों के सुहृद्, शत्रुभाव से रहित, शान्त एवं साधु-गुण से विभूषित हैं। जो मेरी अनन्य भक्ति करते हैं, जो मेरे आश्रय में मद्‌गतप्राण हो मेरी गुण-लीला को परस्पर कहते-सुनते हैं, उन्हें भौतिक क्लेश तप्त नहीं करते। ये उन अनासक्त सन्तों के गुण हैं।'

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस प्रकार के सन्तों की चरण-धूलि प्राप्त करने के लिये, मैं उन सन्तों का अनुब्रजन करता हूँ, उनका अनुसरण करता हूँ, उनके पीछे-पीछे चलता हूँ कि उनके पद-रज उड़कर मेरे ऊपर पड़ें, जिससे मैं कृतार्थ हो जाऊँ, धन्य हो जाऊँ –

निर्बैरः मुनिं शान्तं सर्वत्र समदर्शनः।
अनुब्रजाम्यहम् नित्यं पूयेतैङ्घ्रिरेणुभिः।।

ऐसे ही सन्तत्व की प्राप्ति एवं इसकी दिव्य अभिव्यक्ति का निवास स्थल है रमण रेती आश्रम। मैंने देखा आश्रम में अपनी कुटिया के सामने अनेकों सन्त भगवन्-नाम-जप में संलग्न थे। पूज्य स्वामी कार्ष्णि श्रीगुरुशरणानन्द जी महाराज के विनम्र एवं हार्दिक दिव्य व्यवहार से बार-बार मन परमात्मा की कृपा का अनुभव करने लगा। यही सन्त का लक्षण है – सन्त को देखकर भगवान का स्मरण हो, भक्त को देखकर भगवान में भक्ति वर्धित हो। तुलसीदास जी लिखते हैं – **इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा।** इस प्रकार पूज्य महाराजश्री की सन्निधि से अनुभव हो रहा था। अन्य साधु-संन्यासी भी बड़े प्रेम और श्रद्धा से बातें करते हुये सेवा के लिये उत्सुक थे। सब के लिये समान स्नेह। कोई भी आ जाय, वह तो हमारे रमण बिहारी जी का है, उसकी सेवा में कोई त्रुटि न

रहने पाये। यहाँ से कोई भी भूखा न जा सके, सबकी जितनी सेवा की जा सके, जितना प्रेम दिया जा सके, ऐसे मनोभाव की झलक मुझे वहाँ मिली। मन इतना विभोर हो गया कि वहाँ से आने की इच्छा ही न हो, जिसकी दिव्य स्मृति से मैं अभी भी आनन्दित होता रहता हूँ।

मैं सोचने लगा कि ऐसा क्यों हो रहा है? हम बहुत से स्थानों में जाते हैं, लेकिन ऐसा आकर्षण तो सर्वत्र नहीं होता। फिर सोचा, ऐसा क्यों न हो ! जहाँ स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने क्रीड़ा की, जहाँ ठाकुर रमण बिहारीजी अभी भी विद्यमान हैं, जहाँ राधा-कृष्ण की उद्भावना करनेवाली यमुना जी का सान्निध्य है, जहाँ नित्य रमण बिहारी जी के गुण-लीलाओं का चिन्तन-मनन-निदिध्यासन और कीर्तन होता है, जहाँ ऐसे सर्वप्रेमी सुहृद सन्तों का पावन निवास है, तो यहाँ अवश्य ही प्रशान्ति एवं आनन्द रहेगा।

ब्रज की इसी महिमा-बोध ने भक्त कवि रसखान को वहाँ मनुष्य, पशु, पक्षी यहाँ तक कि पत्थर तक बनने को विवश कर दिया था –

मानुष हौं तो वही रसखानि,
बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरौ,
चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को,
जो कियौ सिर छत्र पुरन्दर धारन।।
जो खग हौं तो बसेरो करौं,
वहि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।।

इसीलिये ऋषिगण गोपी बनकर जन्म लेते हैं और भगवान के साथ नृत्य करते हैं। उनकी भक्ति-लीला से भक्ति स्वयं नाचने लगती है – **धन्य वृन्दावनं तेन भक्तिः नृत्यति यत्र च** – 'वह वृन्दावन धन्य है, जहाँ भक्ति स्वयं नृत्य करती है।' वृन्दावन प्रेम-वाटिका है, जहाँ भक्ति रूपी लता झूमती रहती है। वृन्दानन प्रेम-सरिता है, जहाँ प्रेम रूपी ब्रह्मवारि तरंगायित होती रहती है। वैसे प्रेम कुंज में श्रीराधा-रमण विहारी, श्री राधा-रसिक विहारी, जन-जन के प्यारे श्रीराधा-कृष्ण मुरारी का दिव्य विहार है, दिव्य विचरण है, दिव्य वास है।

एक सन्त कवि ने ब्रज की महिमा बड़े ही भाव पूर्ण ढंग से गायी है –

वृन्दावन सो बन नहीं, नन्दग्राम सो ग्राम।
वंशीवट सो वट नहीं, श्रीकृष्ण नाम सो नाम।।
राधा मेरी स्वामिनी, मैं राधे को दास।
जनम-जनम मोहि दीजियो, श्रीवृन्दावन वास।।

भगवान श्रीकृष्ण के ऐसे दिव्य प्रेमाकर्षण से और उनकी महिमा से सम्पन्न है वृन्दावन धाम। कण-कण-व्यापी श्रीकृष्ण की अनुभूति के लिये हमें भगवान से प्रार्थना कर उनकी कृपादृष्टि की याचना करनी होगी और श्रीकृष्ण की खोज वृन्दावन की लता, कुंज, पर्वत, सरोवर, यमुना में करनी होगी, वहाँ के पशु-पक्षियों में, वहाँ के जन-जन में, वहाँ के कण-कण में करनी होगी तब उनके सान्निध्य का बोध होगा, तब उनका साक्षात्कार होगा। क्योंकि वृन्दावन तो कृष्णमय है। वृन्दावन बिहारी श्रीकृष्ण तो ब्रज के प्रत्येक रज-कण में विद्यमान हैं। राधा रसिक विहारी श्रीकृष्ण तो ब्रज के कण-कण में व्याप्त हैं।

जय श्री राधा-रमण बिहारी !

ईश्वर और उनके अवतार

ऐसा मत ठीक नहीं कि राम-सीता, कृष्ण-राधा आदि ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं – केवल रूपक हैं; या शास्त्र आदि में उनका जो वर्णन है – वह केवल आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही सत्य है – उनका भौतिक अस्तित्व नहीं था। तुम्हारी-हमारी तरह वे भी रक्त-मांस के बने मनुष्य ही थे, परन्तु वे दिव्य-स्वरूप थे, इसीलिए उनके जीवन की रूपकात्मक व्याख्या भी सम्भव है। अवतार और ब्रह्म का सम्बन्ध मानो तरंग और समुद्र की तरह है।

अवतार ईश्वरीय ज्ञान और शक्ति लेकर ही जन्म लेते हैं। ज्ञान की निम्न से लेकर सर्वोच्च अवस्था तक सभी अवस्थाओं में वे संचरण कर सकते हैं। जैसे बाहर का आदमी राजमहल के बाहरी भाग तक ही जा सकता है परन्तु राजपुत्र महल में सर्वत्र स्वच्छन्द घूम सकता है।

सभी अवतार मूलत: एक ही हैं। वही एक ईश्वर मानो जल में डुबकी लगाकर एक स्थान पर कृष्ण के रूप में उदित हुआ और दूसरे स्थान पर ईसा के रूप में।

– ***श्रीरामकृष्ण***

भैरवदत्त उपाध्याय

मैं एक शिक्षक हूँ – ज्ञान का पुंज, अविजेय हिमालय, विद्या का अगाध सागर, श्रद्धा और विश्वास की अखण्ड मूर्ति।

मैं आचार्य हूँ, सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य के विचारों का चुनाव करनेवाला आचार्य – **आचिनोति विवेच्य आचारान् इति आचार्यः**। नैतिक आचरणों की प्रतिमा होने के कारण मेरी पूजा होती है। मैं पूज्य हूँ। मैंने ही इस मानव-जगत् को इतिहास की अँधेरी गुफाओं से निकाल कर प्रकाश के राजपथ पर अग्रसर किया है। जब मानव अज्ञान के घोर तिमिर में निमग्न था, अबोध शिशु-सा ज्ञान-दीप के प्रकाश की एक किरण पाने को भटक रहा था, तब मैंने ही साधना के बल पर उस महान् अखण्ड और अनन्त ज्ञान-अरुण का प्रथम दर्शन किया था। क्रियाओं की कठिन भूमि से अनुभूतियों की फूटती ज्वालामुखी के स्फुल्लिंगों से हृदय-गह्वर को आलोकित किया था। सारस्वत उषा सुन्दरी के धरा पर अवतरित होने पर उसके स्वागत में वैदिक ऋचाओं का गायन और आत्मा की देहली पर ज्ञानवर्तिका को प्रज्वलित किया था। तब उस अज्ञान-तिमिरान्ध व्यक्ति के बन्द चक्षुओं का उन्मीलन कर उसे कण-कण में व्याप्त असीम सत्ता की दिव्यानुभूति कराई थी। **असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय** के साथ – **विद्याऽमृतमश्नुते** का प्रथम पाठ मैंने ही दिया था।

मैं कभी भौतिक सुखों की ओर आकृष्ट नहीं हुआ, सांसारिक दु:खों से हार नहीं मानी, ज्ञान के स्थान पर कंचन के टुकड़ों को महत्त्व नहीं दिया। काम के शरों से वेधित और क्रोध की ज्वाला से दग्ध नहीं हुआ। मोह-निशा की गोद में कभी नहीं सोया। ज्ञान-यज्ञ की अग्नि को जो एक बार प्रज्वलित किया था, आदिम युग से निरन्तर आज तक उसे भस्मशेष नहीं होने दिया। मैंने कभी विश्राम नहीं किया। **ज्ञान के पन्थ कृपाण कै धारा** – पर चलने में कातरता प्रदर्शित नहीं की। इस कठिन कर्म के सम्पादन में शिथिलता नहीं आने दी, पलकें नहीं झपकीं, ज्ञान सूर्य को मोह के श्याम-मेघों से क्षण भर को भी आच्छादित नहीं होने दिया। यदि एक घड़ी का प्रमाद हो जाय, असावधानी करने लगूँ, तो विश्व को अज्ञान का अन्धसागर निगल जाय। जड़ता आच्छादित कर ले। दुष्ट वृत्तियाँ अपनी विजय पर अट्टाहास करने लगें। संस्कृति का उपवन सूखकर वीरान हो जाय। मानवीय मूल्य हमेशा-हमेशा के लिये दफन हो जायें, प्रगति के गतिमान चरण गतिहीन हो जायें, पर मैंने अब तक ऐसा नहीं किया और न कभी करूँगा।

राजसत्ता की प्राप्ति मेरे जीवन लक्ष्यों में नहीं है, जबकि लक्ष्मी मेरे ही संकेतों पर चली है। राजाओं-महाराजाओं और सम्राटों ने मेरे चरणों को पलोटा है, आदेशों को सिर माथे लिया है और भृकुटि भंगिमा से पीपर पात के समान विचलित हुये हैं। एक अदना से बालक चन्द्रगुप्त को राज्य-लक्ष्मी के ऐश्वर्य से अभिषिक्त कर सम्राट् के मूर्धन्य पद पर प्रतिष्ठित करने वाला चाणक्य कौन है? विश्वविजेता अलक्ष्येन्द्र का महान मार्गदर्शक अरस्तू कौन है? राजकुमार चन्द्रापीड का अनुशास्ता आचार्य शुकनाश कौन है? – मैं हूँ। मुझमें क्षात्र और ब्राह्म तेज मूर्तिमान् होकर रहे हैं। शाप और शास्त्र की विध्वंसक शक्तियाँ मेरी अनुचरी रही हैं, पर मैंने कभी उनका उपयोग नहीं किया। अपने ऊपर इनका स्वामित्व स्थापित नहीं होने दिया। विश्व-कल्याण की भावना से सदैव आन्दोलित रहा। सबको मित्र की आँखों से देखा और सबके अभ्युदय की कामना की।

मैंने कभी विद्या का विक्रय नहीं किया। अपनी आत्मा को किसी के हाथों गिरवी नहीं रखा। मैं स्वाधीनचेता, निर्भीक, स्पष्टवक्ता, सत्याग्रही रहा हूँ। बड़े-बड़े राजतन्त्र तथा अर्थपति मुझे सोने की तुला से नहीं तौल सके। अहिंसा और न्याय के मार्ग से रंचमात्र भी हटा नहीं सके। सत्ता का भय मुझे विकम्पित नहीं कर सका और सत्ताधीशों के संकेतों पर नाचने की कठपुलती की भूमिका मैंने कभी नहीं निभाई। मैंने राजतंत्र को धर्मतंत्र से सम्बद्ध किया, भ्रष्टतंत्र की आलोचना की और जनचेतना के जागरण का अलख जगाया।

मेरी सत्ता सार्वदेशिक है; वह समुदाय, वर्ण, जाति, वर्ग और लिंग के कृत्रिम विशेषणों से परे है। अखण्ड और अविभाजित है। फिर भी मैंने विभिन्न नाम-रूपों और विशिष्ट दिक्कालों में अपने आपको अभिव्यक्त कर अनब्याही मिट्टी के दियों को आलोकित किया है। दीप-से-दीप जलाकर हजारों निर्वात और निष्कम्प ज्ञान-दीपों की आकल्प परम्परा रची है। मैंने व्यक्ति की गरिमा को जाना है। उसके विकास की अनन्त सम्भावनाओं को पहचाना है और अन्तर्निहित दैवीय गुणों को उद्घाटित कर सर्वांगीण विकास से उसके व्यक्तित्व को समृद्ध किया है। मैं ही वशिष्ठ और विश्वामित्र बनकर राम जैसे व्यक्तित्व को सँवारने वाला हूँ। कृष्ण की बहुमुखी प्रतिभा को निखारने वाला सन्दीपनि मैं हूँ। वेदों को विस्तार देकर पंचम वेद 'महाभारत' और ज्ञान के विश्वकोष अठारह पुराणों का प्रणेता 'व्यास' मैं हूँ। राजा राम के कुश और लव

नामक पुत्रों को पढ़ाने के लिये मैंने ही रामायण की रचना की थी। राजा अमरशक्ति के मूर्ख पुत्रों को छह माह के भीतर नीतिनिपुण बनाने के लिये पंचतंत्र का रचयिता विष्णु शर्मा मैं ही हूँ। गुरु द्रोण, कृपाचार्य आदि के रूप में मैंने ही जन्म लिया था। भारतमाता की वेदना से पीड़ित होकर मेरी ही कुक्षि से महात्मा गाँधी का अवतरण हुआ था। विश्वगुरु रवीन्द्रनाथ और राष्ट्र के पुरोधा सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, जिन्होंने अपने जीवन को राष्ट्र के लिये समर्पित किया था, भारत माता के श्रीचरणों की विभूति को शिरोधार्य कर शिक्षक की आत्मा को गौरवान्वित किया था।

शंकराचार्य को अद्वैत की शिक्षा देने वाला गोविन्दपाद, जन-जन में भक्ति की भागीरथी को प्रवाहित करने वाले तुलसीदास का गुरु नरहरि और सामाजिक रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों को झकझोरने वाले मस्तमौला कबीर का गुरु रामानन्द भी मैं हूँ। मैंने ही तो उस जुलाहे को निर्गुण राम की उपासना का महामंत्र देकर हिन्दू और तुर्कों की सच्ची उपासना से समाज को अवगत कराने के लिये निर्भीक व्यक्तित्व प्रदान किया था। मुगलों को लोहे के चने चबाने के लिये शिवाजी को जिस रामदास जी ने सामर्थ्य दिया था, अन्धे होकर भी जिस प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द ने दयानन्द नामक जिज्ञासु संकल्पचेता शिष्य को उसकी अन्तश्चेतना को जागृत कर वैदिक धर्म की स्थापना की दीक्षा दी थी, माँ काली के प्रसाद से जिन श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ को विवेक का आनन्द प्रदान कर वधिर विदेशियों के भी कर्णविवरों में भारतीय संस्कृति का उद्घोष करने की प्रेरणा दी थी, वे सब मेरी ही संज्ञायें हैं। तक्षशिला, नालन्दा और वल्लभी के प्राचीन विद्यापीठों में मेरी ही ज्ञानगरिमा की कीर्ति-पताकायें फहरी थीं। समाज ने अद्भुत सम्मान दिया था।

ज्ञान और छात्र मेरी निष्ठा के ऐसे दो बिन्दु हैं, जो श्रेय और प्रेय के जनक हैं। निराकार और साकार उपासना के सोपान हैं और जीवन-साधना की सिद्धि और साधन हैं। छात्र मेरे जीवन का वह मार्मिक पक्ष है, जिसके बिना मेरी कल्पना अधूरी और अधकचरी है। विनीत, प्रपन्न और स्निग्ध शिष्य मेरी आत्मा का सम्बल है, उसे मैं गुह्य से गुह्य ज्ञान भी देने में संकोच नहीं करता। मैंने समग्र जीवन विद्यार्थियों के लिये ही समर्पित करने का जो कभी संकल्प लिया था, उस पर मैं आज भी अडिग हूँ और कल्प-कल्पान्त तक स्थिर रहूँगा। जिज्ञासु छात्र को देखकर मेरे हृदय की चट्टानों से वात्सल्य के अजस्र स्रोत, स्नेह की अविरल धारायें और ममता के अटूट निर्झर फूट पड़ते हैं। आसक्ति का अमर्यादित सिन्धु मर्यादा-तटों के बन्धनों को अस्वीकार कर मुझ जैसे कर्मयोगी को भी आसक्तिमय बना देता है। वह मेरे जीवन की धुरी है। उसका सर्वांगीण विकास मेरा परम लक्ष्य है। मैंने उसे अपने से भी महत्तर बनाने की चेष्टा की है। सदैव अपराजेय रहकर भी उससे बार-बार पराजित होता रहा हूँ। मैं परकाया प्रवेशी हूँ। शिष्य के अन्तस् में पैठकर, उसे अपने नाम और रूप दोनों से अलंकृत कर निजी आसन्दी भी प्रदान करता हूँ। छात्र मेरी मानसी सन्तति है। जिसकी अनवच्छिन्न परम्परा से मेरी कभी पिण्डोदक क्रिया लुप्त नहीं होती और प्रदोष्ण जल नहीं पीता। हम दोनों ही आध्यात्मिक सम्बन्धों के पवित्र बन्धनों में बँधे हैं और बँधे रहेंगे।

मेरा सम्पूर्ण जीवन त्याग और तपस्या से पूर्ण है। मैं स्वतंत्रचेता और क्रान्तिदर्शी हूँ। मैंने समाज का नेतृत्व और सामाजिक परिवर्तनों का संचालन किया है। आज मेरे कर्तव्यों में अभिवृद्धि हुई है। व्यक्ति और समाज के निर्माण के साथ राष्ट्र-निर्माण का गुरुतर भार मेरे कन्धों पर आ पड़ा है। जनतंत्रीय मूल्यों के विकास के साथ प्रजातंत्र की जड़ों को मजबूत करने की जिम्मेदारी मेरे ऊपर ही तो आयी हुई है। मैं कभी कर्तव्यों से विमुख नहीं होता। अतीत की भाँति ही मैं इन दायित्वों को निभाऊँगा। मुझे प्रत्युपकार की अभिलाषा नहीं है। समाज सम्मान देता है तो दे, निरादर करता है तो करे। मैं तो वह दीपक हूँ, जिसका काम अँधेरे में ही जलना है और तिल-तिल जलकर ही दूसरों को रोशनी देना है। संसार में जब तक अँधियारी रातें रहेंगी, एक भी दीपक दीवट से सूनी होगी, सूर्य की एक भी किरण शेष रहेगी, तब तक मैं उन काली रातों से लड़ूँगा और लड़ता रहूँगा।
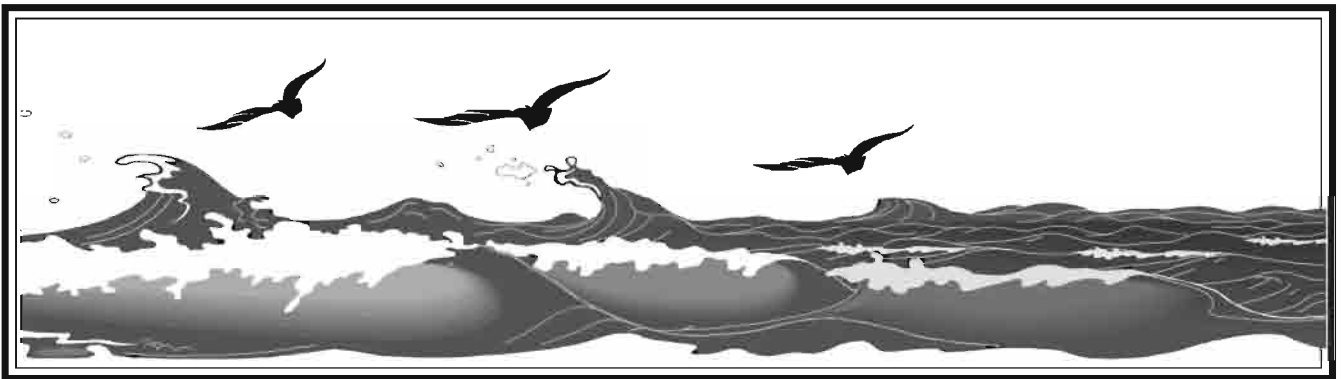
हिमालय में स्वामीजी की दिव्य अनुभूति

कुलदीप उप्रेती

देवात्मा हिमालय के असीम, रहस्यपूर्ण एवं नैसर्गिकता से सरोबार परिवेश ने केवल भारत ही नहीं, अपितु अन्य देशों के महापुरुषों को भी सदैव अपनी ओर आकृष्ट किया है। यहाँ के दिव्य परिक्षेत्र में अनेक महान् योगियों तथा तपस्वियों को ब्रह्मज्ञान की अनुभूति हुई। इसी पुण्य भू-भाग से निकली ज्ञान की रसधारा ने सम्पूर्ण विश्व-वसुधा को आप्यायित किया है। नगेन्द्र की इस महत्ता को भगवान श्रीकृष्ण ने भी स्वीकारा है। योगेश्वर ने इसे **स्थावराणां हिमालयः**[१] के रूप में विभूषित किया है।

विधाता की सुन्दरतम कृति नगाधिराज हिमालय के प्रति युगपुरुष स्वामी विवेकानन्द जी की अगाध निष्ठा थी। हिमवान की अलौकिकता से प्रभावित स्वामीजी ने इस क्षेत्र में अनेक यात्राएँ कीं। पाश्चात्य देशों के भ्रमण से लौटने के पश्चात् अल्मोड़ा अभिनन्दन के उत्तर में प्रदत्त उनकी वक्तृता के अंश उल्लेखनीय है। स्वामीजी कहते हैं – "यह स्थान हमारे पूर्वजों के स्वप्न का देश है, जिसमें भारतजननी श्री पार्वतीजी ने जन्म लिया था। यह वही पवित्र स्थान है, जहाँ भारतवर्ष का प्रत्येक यथार्थ सत्यपिपासु व्यक्ति अपने जीवन-काल के अन्तिम दिन व्यतीत करना चाहता है। इसी दिव्य स्थान के पहाड़ों की चोटियों पर, इसकी गुफाओं के भीतर तथा इसके कल-कल बहने वाले झरनों के तट पर महर्षियों ने अनेकानेक गूढ़ भावों तथा विचारों को सोच निकाला है, उनका मनन किया है। और आज हम देखते हैं कि उन विचारों का केवल एक अंश ही इतना महान् है कि उस पर विदेशी तक मुग्ध हैं तथा संसार के धुरंधर विद्वानों और मनीषियों ने उसे अतुलनीय कहा है। यह वही स्थान है, जहाँ मैं बचपन से ही अपना जीवन व्यतीत करने की सोच रहा हूँ और जैसा कि आप सभी जानते हैं, मैंने कितनी बार चेष्टा की है कि मैं यहाँ रह सकूँ, परन्तु उपयुक्त समय के न आने से तथा मेरे सम्मुख बहुत-सा कार्य होने के कारण मैं इस पवित्र स्थान से वंचित रहा। लेकिन मेरी यही इच्छा है कि मैं अपने जीवन के शेष दिन इसी गिरिराज में कहीं पर व्यतीत कर दूँ, जहाँ अनेक ऋषि रह चुके हैं, जहाँ दर्शन का जन्म हुआ था। परन्तु मित्रो, सम्भव है कि यह सब अब मैं उस ढंग से न कर सकूँ, जिस ढंग से मैंने सोच रखा था – मेरी कितनी इच्छा है कि मैं बिना किसी के जाने पूर्ण शान्ति में यहाँ रहूँ – लेकिन हाँ, इतनी आशा जरूर है तथा मैं प्रार्थना करता हूँ और विश्वास भी करता हूँ कि संसार के अन्य सभी स्थानों को छोड़कर मेरे जीवन के अन्तिम दिन यहीं व्यतीत होंगे।"[२]

अपनी मई-जून १८९८ ई. की अल्मोड़ा यात्रा के दौरान अरुणोदय के समय उषा के आलोक से रंजित हिमराशि को निहारते हुये उन्होंने उस ओर अंगुलि-संकेत करते हुये भगिनी निवेदिता से कहा था – "वे जो ऊपर श्वेतकाय हिम-मण्डित पर्वत शिखर है, वे ही शिव हैं और उस पर जो आलोक पड़ रहा है, वे ही जगदम्बा है।"[३]

ऋषि-मुनियों की चरणधूलि से पवित्र तथा दैवी सम्पदा दिव्य भावनाओं से परिपूरित पर्वतराज हिमालय के प्रति स्वामीजी के बाल्यावस्था से ही आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध रहे। वे हिमालय सम्बन्धी यात्रा-वृत्तान्त, संस्मरण आदि का पठन-श्रवण कर अत्यन्त भाव-विभोर हो जाते। इसका ही प्रभाव था कि अपने भावी जीवन-काल में तीन बार इस क्षेत्र में यात्रा की। स्वामीजी ने सन् १८९० के अगस्त माह से उत्तराखण्ड की प्रथम यात्रा प्रारम्भ की थी। उनके इस भ्रमण का मुख्य उद्देश्य आत्मज्ञान की प्राप्ति था। अपने अभीष्ट ध्येय के लिये प्रयाण से पूर्व स्वामीजी अखण्डानन्दजी को साथ लेकर श्री माँ से उनके तत्कालीन घुसड़ी स्थित आवास में आशीर्वाद लेने पहुँचे। स्वामीजी ने अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त करते हुये उनसे कहा – "माँ! यदि मनुष्य बनकर लौट सकूँगा, तभी लौटूँगा, अन्यथा नहीं!" वराहनगर मठ से विदा होने के पूर्व अपने गुरुभाइयों से भी स्वामीजी ने दृढ़तापूर्वक कहा था – "इस बार स्पर्शमात्र से लोगों को रूपान्तरित कर देने की क्षमता प्राप्त किये बिना नहीं लौटूँगा।"[४]

स्वामीजी ने अपनी यह विशुद्ध आध्यात्मिक यात्रा हिमालय-भ्रमण के विशेषज्ञ स्वामी अखण्डानन्द के साथ सम्पन्न की। वे भागलपुर, वैद्यनाथ, गाजीपुर, वाराणसी, अयोध्या, नैनीताल से होकर गन्तव्य स्थल अल्मोड़ा तक पहुँचे। इस बीच नैनीताल से अल्मोड़ा की ओर बढ़ते हुये रात्रि-विश्राम हेतु काकड़ी-घाट नामक स्थान पर रुकने का विचार निश्चित हुआ। वे काकड़ी-घाट में एक झरने के किनारे बने घराट (पनचक्की) के समीप ठहरे। सन्ध्याकालीन वेला में स्नान आदि से निवृत्त होकर स्वामीजी ने निकटवर्ती विशालकाय पीपल वृक्ष के नीचे ध्यान करने हेतु बैठने का निश्चय किया। पूर्वकाल से साधु-सन्तों की इस तपोभूमि में स्वामीजी को ध्यानावस्था के दौरान सृष्टि के कण-कण में परिव्याप्त परम सत्ता से एकाकार होने की अलौकिक अनुभूति हुई। ध्यान में एक घण्टे की अवधि गुजर जाने के पश्चात् स्वामीजी अपने साथी संन्यासी अखण्डानन्द जी को सम्बोधित करते हुये कहा – "देखो गंगाधर, इस वृक्ष के नीचे एक अत्यन्त शुभ मुहूर्त

बीत गया है। आज एक बड़ी समस्या का समाधान हो गय ! मैंने जान लिया कि समष्टि और व्यष्टि (विश्व-ब्रह्माण्ड और अणु-ब्रह्माण्ड) दोनों एक ही नियम से परिचालित होते हैं।'' तत्पश्चात् स्वामी अखण्डानन्द जी की पुस्तिका (Note-Book) में स्वामीजी ने अपनी उस परमोच्च अनुभूति को लिपिबद्ध किया। स्वामीजी ने लिखा है –

''सृष्टि के आदि से शब्द-ब्रह्म था' इत्यादि।

''अणु-ब्रह्माण्ड और विश्व-ब्रह्माण्ड की एक ही नियम से संरचना हुई है। जिस प्रकार व्यष्टि जीवात्मा एक चेतन शरीर द्वारा आवृत है, उसी प्रकार विश्वात्मा भी चेतनामयी प्रकृति या दृश्य जगत् में स्थित है। शिवा (काली) शिव का आलिंगन कर रही है।

''यह कोई कल्पना नहीं है। इसी एक (प्रकृति) के द्वारा दूसरे (आत्मा) का आलिंगन मानो शब्द और अर्थ की भाँति है। वे दोनों अभिन्न है और केवल मानसिक विश्लेषण के द्वारा ही उन दोनों को पृथक् किया जा सकता है। अतएव 'सृष्टि के आदि में शब्द-ब्रह्म था' इत्यादि।

''विश्वात्मा का यह युगल स्वरूप अनादि है। अतएव हम लोग जो कुछ देखते है या अनुभव करते हैं, सभी की संरचना साकार और निराकार से सम्मिलन से हुई है।''[५]

विश्वात्मा से हुये इस अदभुत साक्षात्कार ने युगनायक स्वामी विवेकानन्द के विचारों में युगान्तरकारी परिवर्तन ला दिया। आत्म-साक्षात्कार के शुभ मुहूर्त के घटित होने के पश्चात् उनमें प्रचण्ड आत्मशक्ति प्रादुर्भूत हुई, जो शिकागो विश्व-धर्म-महासभा में पदार्पण कर समूचे विश्व के प्रबुद्धजनों के मध्य दिये गये ऐतिहासिक व्याख्यान से लेकर, जीवन पर्यन्त जन-जन में नव चैतन्यता देती रही तथा उससे नि:सृत असीम आत्मिक उर्जा आज भी मानवता को पल-पल नित नवीन चेतना से संजीवन प्रदान कर रही है।

देवभूमि उत्तराखण्ड के सुरम्य अंचल नैनीताल जनपद के अल्मोड़ा-भवाली मोटर मार्ग पर स्थित इस जाग्रत स्थल में वही पीपल का वृक्ष अब भी विद्यमान है। पावन कोसी नदी के तटवर्ती इस पवित्र स्थल में स्थानीय व देश-विदेश से आत्मज्ञान के असंख्य यथार्थ पिपासु पहुँचते है और श्रद्धावनत् होकर अपनी पात्रता के अनुसार लाभान्वित होते हैं।

सन्दर्भ सूची –

१. भगवद्-गीता, अध्याय १०, श्लोक २५
२. भारतीय व्याख्यान, स्वामी विवेकानन्द, १३वां सं., पृ. २८९
३. स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण, भगिनी निवेदिता, पृ. ३१
४. युगनायक विवेकानन्द, भाग १, ५म सं., पृ. २४१
५. वही, भाग १, ५म सं., पृ. २४१

सर्वोत्तम रास्ता

देवेन्द्र कुमार मिश्रा

जो तुम देते हो
वही लौटकर वापस आ जाता है।
अच्छी और बुरी
संसार की जो हालत है
उसके जिम्मेदार भी तुम हो
किसी और का कुछ लेना-देना नहीं है।
यदि तुम किसी पर अंगुली उठाते हो
तो तीन अंगुली तुम्हारी तरफ भी होती है,
मात्र एक दूसरी तरफ
और अँगूठा ऊपर रहता है कि
देख रहा है ऊपरवाला
तुम धोखा नहीं दे सकते
न परमात्मा को, न स्वयं को।
दूसरों की आलोचना मात्र कमजोरी है तुम्हारी
हालात नहीं बदलते किसी की अलोचना से
तुम्हारा दिया संसार तुम्हारे सामने है
अब कैसी शिकायत और किससे
समझते हो तो स्वयं को बदलो।
स्वयं से सीखो,
स्वयं को सुधारो
दुनिया की बेहतर बनाने का
इससे उत्तम कोई रास्ता नहीं ॥

मेहमान हैं हम

चार दिन के मेहमान हैं हम
आज हैं, तो कल चले जायेंगे
दुनियाँ – घर में बसने को कल
फिर नये लोग आयेंगे,
आती-जाती दुनियाँ है
आना-जाना लगा रहेगा।
कल कोई और था, आज मैं हूँ;
कल कोई और रहेगा।
दुनिया एक सराय है,
हम बंजारे आयेंगे-जायेंगे ॥

'विवेक-ज्योति' में वर्ष २००९ ई. के दौरान प्रकाशित लेखकों तथा उनकी रचनाओं की सूची

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

रामकृष्ण मिशन आश्रम

(रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ की एक शाखा)

स्वामी आत्मानन्द मार्ग, प्रेस काम्प्लेक्स के पास,

भोपाल (म.प्र.) ४६२ ००१

टेलीफोन : 0755-2550520 **Email :** ashrama@rkmbhopal.org

Website : www.rkmbhopal.org

एक अपील

भोपाल का रामकृष्ण मिशन आश्रम. पिपलानी के भेल काम्प्लेक्स में 'विवेकानन्द विद्यापीठ' नाम से एक स्कूल चलाता है, जिसमें केजी १ से बारहवीं तक की सह-शिक्षा प्रदान की जाती है ।

वर्तमान में इसमें निर्धन तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग के लगभग ६६० छात्र-छात्राएँ शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं । पुराने स्कूल का भवन आवश्यकता के लिहाज से छोटा पड़ रहा है और जर्जर भी हो चुका है, अत: आश्रम की प्रबन्ध समिति ने तीन करोड़ की लागत से एक नये स्कूल-भवन के निर्माण का बीड़ा उठाया है ।

२४ जुलाई, २००९, शुक्रवार के दिन रामकृष्ण मठ तथा मिशन, बेलूड़ के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्दजी महाराज ने प्रस्तावित स्कूल-भवन की आधारशिला रख दी है । ५ अगस्त २००९ को 'राखी-पूर्णिमा' के शुभ अवसर पर निर्माण-कार्य का श्रीगणेश भी हो चुका है ।

इस स्थिति में आश्रम की प्रबन्ध-समिति – सभी अनुरागियों, पुण्याभिलाषियों, सेवाभावी संस्थाओं तथा व्यावसायिक संस्थानों से हार्दिक अनुरोध करती है कि वे आगे बढ़कर इस सार्वजनिक कार्य में सहायता करें ।

उपरोक्त पुण्य-कार्य हेतु छोटी-से-छोटी सहायता राशि भी सधन्यवाद स्वीकृत होगी । रामकृष्ण मिशन को दिये गये सभी दान आयकर अधिनियम की धारा ८०-जी के अनुसार आयकर से मुक्त है।

कृपया चेक या ड्राफ्ट "रामकृष्ण मिशन आश्रम, भोपाल" के नाम पर बनवाकर उपरोक्त पते पर 'सचिव' के नाम से भेजें।

प्रभु की सेवा में आपका

स्वामी भावरूपानन्द

सचिव